भेद में छिपा अभेद

आचार्य महाप्रज्ञ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भेद में छिपा अभेद

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन विश्व भारती प्रकाशन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रज्ञापर्व प्रवचन माला-4

संदर्भ : **योगक्षेमवर्ष**

सान्निध्य एवं प्रेरणा
आचार्य श्री तुलसी

प्रवचनकार
आचार्य महाप्रज्ञ

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मुख्य संपादक

मुनि दुलहराज

संपादक

मुनि धनंजय कुमार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रकाशक : **जैन विश्व भारती,**
लाडनूं-३४१३०६

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

ISB No. 81-7195-023-X

नवीन संस्करण : २०१४

मूल्य : ७०.०० रु.

मुद्रक : कला भारती,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

BHED MEN CHHIPA ABHED

Acharya Mahaprajna Rs.70/-

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आशीर्वचन

योगक्षेम वर्ष का अपूर्व अवसर। प्रज्ञा जागरण और व्यक्तित्व निर्माण का महान् लक्ष्य। लक्ष्य की पूर्ति के बहुआयामी साधन-प्रवचन, प्रशिक्षण और प्रयोग। प्रवचन के प्रत्येक विषय का पूर्व निर्धारण। अध्यात्म और विज्ञान को एक साथ समझने और जीने की अभीप्सा। समस्या एक ही थी- प्रशिक्षु व्यक्तियों के विभिन्न स्तर। एक ओर अध्यात्म तथा विज्ञान का क,ख,ग नहीं जानने वाले दूसरी ओर अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों के जिज्ञासु। दोनों प्रकार के श्रोताओं को उनकी क्षमता के अनुरूप लाभान्वित करना कठिन प्रतीत हो रहा था। चिन्तन यहीं आकर अटक रहा था कि उनको किस शैली में कैसी सामग्री परोसी जाए? नए तथ्यों को नई रोशनी में देखने की जितनी प्रासंगिकता होती है, परम्परित मूल्यों की नए परिवेश में प्रस्तुति उतनी ही आवश्यक है।

न्यायशास्त्र का अध्ययन करते समय **देहली दीपक न्याय और डमरुक मणि न्याय** के बारे में पढ़ा था। दहलीज पर रखा हुआ दीपक कक्ष के भीतर और बाहर को एक साथ आलोकित कर देता है। इसी प्रकार वक्तृत्व कला में कुशल वाग्मी अपनी प्रवचन धाराओं से जनसाधारण और विद्वान्-दोनों को अभिष्णात कर सकते हैं, यदि उनमें पूरी ग्रहणशीलता हो।

योगक्षेम वर्ष की पहली उपलब्धि है-प्रवचन की ऐसी शैली का आविष्कार, जो न सरल है और न जटिल है। जिसमें उच्चस्तरीय ज्ञान की न्यूनता नहीं है और प्राथमिक ज्ञान का अभाव नहीं है। जो निश्चय का स्पर्श करने वाली है तो व्यवहार के शिखर को छूने वाली भी है। इस शैली को आविष्कृत या स्वीकृत करने का श्रेय है '**युवाचार्य महाप्रज्ञ**' को।

योगक्षेम वर्ष की प्रवचनमाला उक्त वैशिष्ट्य से अनुप्राणित है। इसकी उपयोगिता योगक्षेम वर्ष के बाद भी रहेगी, इस बात को ध्यान में रखकर प्रज्ञापर्व समारोह समिति ने महाप्रज्ञ के प्रवचनों को जनार्पित करने का संकल्प

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संजोया। **'भेछ में छिपा अभेद'** उसका चौथा पुष्प है, जो ठीक समय पर जनता के हाथों में पहुंच रहा है।

जिन लोगों ने प्रवचन सुने हैं और जिन्होंने नहीं सुने हैं, उन सबको योगक्षेम यात्रा का यह पाथेम चिन्तन की एक नई दृष्टि देता रहेगा, ऐसा विश्वास है।

३१ अगस्त १९९१
जैन विश्व भारती **आचार्य तुलसी**
लाडनूं (राज.)

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रस्तुति

सत्य को देखने की दृष्टि और परखने की कसौटी का नाम है अनेकान्त। अनेकान्त की घोषणा है - जितने वचन के पथ उतने नयवाद - सत्य को पकड़ने के दृष्टिकोण। प्रत्येक विचार एक नय है और वह है सापेक्ष। हमारी सत्यांश को पकड़ने की प्रवृत्ति नहीं है। सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर चलने की प्रवृत्ति बद्धमूल हो गई है। इसलिए हम एक विचार को सत्य मानते हैं और दूसरे असत्य। सांप्रदायिक झगड़ों का यही मूल आधार है।

सांप्रदायिक सद्भावना का स्वर्ण-सूत्र है अनेकान्त। अपने विचार के सत्यांश को स्वीकार करो पर भिन्न विचार या दूसरे के विचार के सत्यांश का खण्डन मत करो। भेद और अभेद - दोनों सापेक्ष हैं। उन दोनों को सापेक्षदृष्टि से देखो।

प्रस्तुत पुस्तक में केवल अभेद अथवा समन्वय साधने का प्रयत्न नहीं है। इसमें भेद और अभेद - दोनों का यथार्थ दर्शन है। किसी भी सत्यांश के प्रति अन्याय न हो, इसका सम्यक् प्रयत्न किया गया है।

आचार्य श्री तुलसी ने अनेकान्त की दृष्टि का स्वयं प्रयोग किया है और मुझे भी वह दृष्टि दी है। मेरी धारणा में इससे बड़ा कोई चक्षुदान नहीं हो सकता। मुनिदुलहराजजी प्रारंभ से ही साहित्य संपादन के कार्य में लगे हुए हैं। वे इस कार्य में दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि धनंजय कुमार ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ

१५ अगस्त १९९१
जैन विश्व भारती
लाडनूं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

संपादकीय

● सबहु सयाने एक मत - इस स्वर में एक सचाई है और वह है अभेद चेतना की स्वीकृति।

● जितने व्यक्ति हैं, उतने विचार हैं। जितने विचार हैं उतने मत हैं - इस ध्वनि में भी सत्य की प्रतिध्वनि है, जिसका हार्द है- भेद चेतना की स्वीकृति।

● एकमत-अनेकमत, सम्मत-विमत, सम्मति-विमति- ये कुछ शब्द हैं, जो व्यक्ति की भेदात्मक और अभेदात्मक चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं।

● मतभेद को रोका नहीं जा सकता।

जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता है, विचार की स्वतंत्रता है, वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है वहां मतभेद का न होना आश्चर्य है, होना आश्चर्य नहीं है। इसीलिए अनेक धर्म-संप्रदाय हैं, अनेक ग्रंथ और पंथ हैं, अनेक प्रवर्तक और विचारक हैं।

● प्रश्न है-
क्या मतभेद और विचार भेद समस्या है?
विचार भेद समस्या को जन्म क्यों देता है?
क्या संघर्ष का कारण विचार भेद है?
क्या भेद में अभेद को खोजा नहीं जा सकता ?

● हम विचार भेद को समझें किन्तु उसे समस्या न बनाएं।

● जहां विचार भेद नहीं है वहां भी समस्या और संघर्ष हो सकते हैं।
जहां विचार भेद है वहां भी समस्या और संघर्ष से बचा जा सकता है।

● विचार भेद के साथ समस्या और संघर्ष का नियत अनुबंध नहीं है। विचार भेद समस्या और संघर्ष का कारण भी हो सकता है, विकास और सृजन के नए द्वार भी खोल सकता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

● हम विचार भेद को मतभेद का रूप न दें।

हम यह भी न सोचें- मेरा विचार ही सत्य है, उससे भिन्न विचार असत्य है। जब आग्रह और अभिनिवेश प्रबल बनता है तब विचार भेद समस्या, तनाव या संघर्ष का कारण बनता है।

● विचार की भिन्नता संघर्ष का मूल नहीं है।

हम दूसरे के विचार को सहें, उसे कुचलने, दबाने या झुठलाने का प्रयास न करें।

● विचार का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

उसे किसी सीमा विशेष में आवेष्टित करना न्यायोचित नहीं है।

हमारा दृष्टिकोण यह हो - प्रत्येक विचार एक सचाई है और इस सचाई का साक्षात्कार करना हमारा ध्येय है।

● वस्तुतः कोई भी विचार-भेद ऐसा नहीं है, जिसमें अभेद का सूत्र पकड़ा न जा सके। अपेक्षा है सापेक्षदृष्टिकोण बनाने की।

● भेद में भी अभेद छिपा है और अभेद में भी भेद अन्तर्हित है।

हम भेद में छिपे अभेद को प्रकाश में लाएं और अभेद में छिपे भेद को अनावृत करें।

● प्रस्तुत पुस्तक **भेद में छिपा अभेद** इस दिशा में एक प्रस्थान है।

इसमें भेद और अभेद की सार्थक मीमांसा प्रस्तुत है, जिसकी आधार भूमि है विभिन्न धर्म-संप्रदाय, विभिन्न दर्शन, विभिन्न ग्रन्थ, विभिन्न साधना पद्धतियां और विभिन्न व्यक्तित्व ।

● दो भिन्न दिशाओं में गति करने वाले भी एक बिन्दु पर मिल जाते हैं और दो समान धारा में चलने वाले भी समानांतर रेखा की भांति कहीं नहीं मिलते।

प्रस्तुत ग्रंथ की विषय-वस्तु में इस तथ्य पर सशक्त हस्ताक्षर हैं।

● प्रस्तुत पुस्तक तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त व्यक्तियों को एक नई दिशा की ओर अभिप्रेररित करती है।

इसमें उपलब्ध है तुलनात्मक अध्ययन की एक अभिनव संकेत-लिपि।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

● इस ग्रंथ के प्रणेता हैं युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ।

अनेकान्त के आलोक में शाश्वत और सामयिक सचाइयों को अनावृत करने वाला महाप्रज्ञ का यह उपक्रम एक महान् अवदान है, जिसमें एक ओर बिखरी हुई सचाईयों को एक स्थान पर सहेजा गया है तो दूसरी ओर विचार भेद-जनित समस्या, तनाव एवं संघर्ष की समाप्ति के मार्ग निर्देशक तत्व संदर्शित हैं, विचार भेद से प्रस्फुटित होने वाली विकास और सृजन की अभिप्रेरणा की प्रस्तुति है।

● विश्वास है- विचार के विभिन्न स्रोतों का उद्घाटन करने वाला महाप्रज्ञ का यह मौलिक सृजन वैचारिक समस्या से दिग्भ्रान्त बने मनुष्यों को समाधान की राह देगा, तुलनात्मक अध्ययन की एक नई धारा का सूत्रपात करने में सफल प्रयत्न सिद्ध होगा।

२१ अगस्त ९१ **मुनि धनंजय कुमार**

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राज.)

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

क्रम

विचार

१. धर्म और राजनीति	१
२. उत्तराध्ययन और धम्मपद	८
३. उत्तराध्ययन और महाभारत	२०
४. आचारांग और गीता (१)	३१
५. आचारांग और गीता (२)	३५
६. आचारांग और उपनिषद् (१)	४०
७. आचारांग और उपनिषद् (२)	४४
८. पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्	४८

दर्शन

९. जैन धर्म और बौद्ध धर्म	५७
१०. जैन धर्म और वैदिक धर्म	६७
११. जैन धर्म और इस्लाम धर्म	७५
१२. जैन धर्म और ईसाई धर्म	८४

ध्यान-रोग

१३. ध्यान की विभिन्न धाराएं	९५
१४. प्रेक्षा और विपश्यना	१०५
१५. प्रेक्षाध्यान और निर्विचार ध्यान	११५
१६. प्रेक्षाध्यान और भावतीत ध्यान	११९

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

व्यक्तित्व

१७. आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी १२३
१८. आचार्य भिक्षु और टॉलस्टॉय १३०
१९. आचार्य भिक्षु और रस्किन १३५
२०. जयाचार्य और मार्क्स १३९

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

धर्म और राजनीति

मूल्य का अपकर्ष

आज सामान्य आदमी की सोच एवं अवधारणा में राजनीति और धर्म – दोनों के मूल्य का अपकर्ष हुआ है। धर्म और राजनीति–दोनों समाज के लिए अत्यंत अनिवार्य है। राजनीति के बिना समाज या राज्य की व्यवस्था नहीं चल सकती और धर्म के बिना किसी भी व्यक्ति की सुखद व्यवस्था नहीं हो सकती। बहुत कम लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने राजनीति पर स्वतंत्र रूप से चिन्तन-मंथन किया है। पाश्चात्य देशों में राजनीति पर बहुत चिन्तन किया गया।

प्रश्न है–राजनीति का लक्ष्य क्या है? प्राचीन यूनानी दार्शनिकों ने कहा– राजनीति का लक्ष्य है नैतिक समाज की स्थापना। किन्तु इन तीन-चार शताब्दियों में राजनीतिज्ञों ने इस अवधारणा को पूरा स्थान नहीं दिया। उनकी अवधारणा में राजनीति का लक्ष्य रहा–समाज में सुख बढ़े, दुःख दूर हो। भारतीय संविधान में कहा गया–प्रत्येक नागरिक को सुख एवं शांति की गारन्टी दी जाए। यदि हम धर्म और राजनीति पर स्वतंत्र दृष्टि से विचार करें तो इन दोनों के संदर्भ में स्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत होगा।

धर्म और राजनीति का कार्य

राजनीति का काम है–समाज की रचना या राज्य की स्थापना। धर्म का काम है – व्यक्ति का निर्माण। धर्म कभी समाज की रचना नहीं कर सकता। हालांकि स्मृतिकारों ने समाज की स्थापना का प्रयास किया है किन्तु उनका धर्म मोक्ष-धर्म से जुड़ा हुआ नहीं है। स्मृतिकारों ने कहा– राज्य की स्थापना तभी संभव है, जब उसके साथ दण्डनीति भी हो। जहां दंड की व्यवस्था नहीं होती, वहां समाज की स्थापना नहीं हो सकती। यह अतीत का सत्य रहा है और इसे वर्तमान युग की

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सचाई भी मान लेना चाहिए। यदि हम ऐसे युग का निर्माण कर सकें, ऐसे वातावरण का निर्माण कर सकें, जिसमें समाज इतना अनुशासित हो जाए कि दंड-शक्ति की अपेक्षा समाप्त हो जाए। इस स्थिति में ही हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाज अनुशासित हो सकता है।

समस्या : कारण

समस्या यह है – भिन्न भिन्न विचार के लोग हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के मस्तिष्क हैं। मानव-मस्तिष्क का विश्लेषण करें तो मस्तिष्क की अनेक श्रेणियां प्रस्तुत हो जाती हैं। मस्तिष्क को संक्षेप में पांच श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

१. अति-विकसित।
२. विकसित।
३. अल्प-विकसित।
४. अर्द्ध-विकसित।
५. अ-विकसित।

ऐसे लाखों आदमी हैं, जिनका मस्तिष्क सर्वथा अविकसित है। उनके लिए कोई शब्द काम नहीं करता, धर्म का उपदेश काम नहीं करता। वे कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं होते। जो सुनते हैं, उसे समझ नहीं पाते। लाखों लोग अर्द्ध-विकसित दिमाग वाले हैं। अल्प-विकसित और विकसित दिमाग वालों की संख्या भी कम नहीं है। बहुत कम लोग ऐसे हैं, जिनका मस्तिष्क अति-विकसित है। अपनी मस्तिष्कीय क्षमताओं का अधिकतम उपयोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या नगण्य ही है।

कानून और व्यवस्था की अनिवार्यता

जिस समाज में जीने वाले व्यक्ति विभिन्न श्रेणियों में बंटे हुए हैं, उस समाज को हृदय-परिवर्तन या धर्म के द्वारा संचालित करने की कल्पना भी एक अतिकल्पना जैसी लगती है। प्रश्न है–धर्म के द्वारा समाज कब संचालित होता है? जहां अल्प क्रोध, अल्प मान, अल्प माया और अल्प लोभ हो, इस प्रकार अल्प कषाय की मानसिकता का निर्माण हो, वहां धर्म द्वारा समाज संचालित हो सकता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हृदय-परिवर्तन काम कर सकता है। आदिम युग में एक समय ऐसा था, जब राज्य और राजनीति नहीं थी, किन्तु सब लोग स्वतः अनुशासित थे। उस समय न कोई छीना-झपटी होती थी, न अपराध और चोरियां होती थीं। इसका कारण यह था— उस समय आवश्यकताएं अल्प थीं और पदार्थ अनंत। इस स्थिति में हृदय-परिवर्तन के द्वारा समाज की व्यवस्था चल सकती है। जहां आवश्यकताएं बढ़ जाएं, आवश्यकता के स्रोत कम हो जाएं, पदार्थ की खपत ज्यादा हो जाए, उपभोक्ता बढ़ जाएं, वहां हृदय-परिवर्तन द्वारा समाज को शासित किया जा सके, यह संभव नहीं लगता। जहां चोरी, छीना-झपटी आदि समस्याएं उभरती रहती हैं, वहां कानून और व्यवस्था की अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता। इस स्थिति में राजनीति और राज्य-व्यवस्था का विकल्प ही समाधान बनता है।

राजनीति : लक्ष्य की रेखाएं

राज्य की स्थापना के साथ यह लक्ष्य जुड़ा रहता है— समाज में सुख एवं शांति रहे। समाज को सुख मिले, सुविधा के साधन-उपलब्ध हों। समाज में अपराध न हो, कलह और छीना-झपटी न हो। बड़े लोग छोटों पर अन्याय न करें। राजनीति के सामने लक्ष्य की ये रेखाएं रहती हैं और इन रेखाओं के आधार पर राजनीति के द्वारा राज्य की स्थापना होती है। इन लक्ष्यों के अनुरूप समाज निर्माण के प्रयत्न चलते हैं। यह स्पष्ट है—जहां राजनीति है वहां व्यक्ति का प्रश्न नहीं हो सकता, हृदय-परिवर्तन का प्रश्न नहीं हो सकता। राजनीति के सामने दूर तक जाने वाली नैतिकता का प्रश्न भी नहीं होता। राजनीति के साथ नैतिकता का प्रश्न उपयोगिता से जुड़ा हुआ है। उपयोगितापरक नैतिकता राजनीति के क्षेत्र में अवश्य उपलब्ध हो सकती है। यदि हम वर्तमान राजनीति के साथ विशुद्ध नैतिकता का प्रश्न जोड़ना चाहें तो शायद वह संभव नहीं है।

राजनीति और नैतिकता

कुछ पाश्चात्य चिन्तकों ने राजनीति का नैतिकता के साथ विचार किया है। कुछ भारतीय चिन्तकों ने राजनीति का धर्म के साथ संबंध

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जोड़ने का प्रयत्न भी किया है। एक ओर राजनीति है तो दूसरी ओर धर्म एवं नैतिकता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि राजनीति का नैतिकता और धर्म के साथ सापेक्ष संबंध ही माना जा सकता है। उनमें कोई अनिवार्य संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। जहां राजनीति है वहां धर्म की अनिवार्यता है, नैतिकता की अनिवार्यता है, ऐसा नहीं माना जा सकता और ऐसा हो भी नहीं सकता। इनमें सापेक्ष संबंध ही हो सकता है। धर्म के सामने समाज जैसा कोई शब्द ही नहीं है। उसके सामने प्रश्न है व्यक्ति का। वास्तव में व्यक्तिवाद धर्म की एक महत्त्वपूर्ण देन है। आज राजनीति के क्षेत्र में भी व्यक्ति-स्वातंत्र्य का मूल्य बढ़ा है पर मूलतः यह कोई राजनीति का प्रश्न नहीं है। यह धर्म का प्रभाव है। जहां व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं होगा वहां राज्य कैसे अच्छा चलेगा? जो राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का उपहरण करे, वह अच्छा हो नहीं सकता। जब से लोकतंत्र चला है, लोकतंत्र की राजनीति रही है, तब से उसमें जाने-अनजाने धर्म के कुछ सिद्धान्त स्वीकार कर लिए गए हैं।

स्वतंत्रता का प्रश्न

व्यक्ति की स्वतंत्रता, वाणी की स्वतंत्रता, लेखन की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता—ये सारे सिद्धान्त धर्म के प्रभाव से स्वीकृत हुए हैं। स्वतंत्रता का प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वतंत्रता देना राजनीति का कार्य नहीं है। राजनीति का कार्य है स्वतंत्रता को सीमित करना। समाज की व्यवस्था के लिए स्वतंत्रता को सीमित करना अनिवार्य बन जाता है। यह राजनीति की भाषा नहीं है—व्यक्ति की जो इच्छा हो, वह करे और जो इच्छा नहीं है, उसे न करे। व्यक्ति की इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न राजनीति में मुख्य नहीं है। धर्म के क्षेत्र में कहा जाता है—व्यक्ति की इच्छा हो तो त्याग या व्रत ले। उसकी इच्छा न हो तो त्याग की बात को अस्वीकार कर दे। यह इच्छा का स्वातंत्र्य धर्म की भाषा में स्पष्ट है लेकिन राजनीति की भाषा में इसका कोई मूल्य नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

धर्म और राजनीति : मूल सूत्र

धर्म का मूल सिद्धान्त है — स्वतंत्रता और राजनीति का मूल सूत्र है— दण्ड का शासन। किन्तु धर्मविहीन कोई भी राजनीति अच्छी नहीं हो सकती। हमें धर्म और राजनीति में सापेक्ष संबंध स्वीकार करना होगा। राजनीति में स्वतंत्रता के सिद्धान्तों की जो स्थापना हुई है, उनका जो विकास हुआ है, उसमें धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वर्तमान स्थिति यह है—जो राज्य अपने नागरिकों को स्वतंत्रता नहीं देता, वह एक अलग खेमे में माना जाता है, पूरी दुनिया से अलग-थलग पड़ जाता है। हम अधिनायकवादी युग को देखें। वह कितना विचित्र युग था। उस शासन में इतनी क्रूरता थी कि लाखों आदमियों को भून डालना एक सामान्य बात थी। उस युग की कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो जाता है। आज अधिनायकवाद में जकड़े देशों की स्थितियां बदल रही हैं। उस लोहावरण से छनकर जो आ रहा है, वह सबको आश्चर्य में डाल रहा है। जनता ने यह अनुभव कर लिया है—स्वतंत्रता के बिना जो जीवन जिया, क्रूर शासकों के जो अत्याचार सहे, वे जीवन के काले दिन थे। आज वे ग्लासनोस्त और पेरोस्रोइका की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं।

राजनीति पर प्रभाव

यह एक तथ्य है—धर्म का राजनीति पर प्रभाव रहता है। धर्म के मूल सिद्धान्तों को छोड़कर जो राजनीति चलेगी, वह ज्यादा टिक नहीं पाएगी। जैसे मोक्ष के लिए धर्म एक परम सिद्धान्त है वैसे ही समाज-व्यवस्था के लिए राजनीति एक परम सिद्धान्त है। बहुत सारे लोग राजनीति को बदनाम करते हैं। अनेक व्यक्ति आलोचना की भाषा में कहते हैं—आजकल सब जगह राजनीति चलती है। राजनीति का चलना कोई बुरी बात नहीं है। जीवन के लिए भोजन जितना अनिवार्य है, समाज-व्यवस्था के लिए राजनीति उतनी ही अनिवार्य है। राजनीति द्वारा संचालित राज्य अच्छा होता है, राजनीति अच्छी होती है, तब भोजन, पानी, मकान आदि प्राथमिक व्यवस्थाएं उपलब्ध होती हैं। यदि राजनीति अच्छी नहीं है, राजनीति का दर्शन अच्छा नहीं है तो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

राज्य की व्यवस्था भी अच्छी नहीं होगी। राज्य की व्यवस्था अच्छी नहीं होगी तो समाज-व्यवस्था अच्छी नहीं होगी, जीवन की प्राथमिक आवश्यकताएं सब लोगों को समान रूप से उपलब्ध नहीं हो पाएंगी। समाज में अव्यवस्था फैलेगी, आपाधापी चलेगी, समृद्ध लोग कमजोर लोगों को निगलते रहेंगे।

सापेक्ष है प्रभाव

हम इस सचाई को समझें—राजनीति समाज की व्यवस्था का एक पवित्र सिद्धान्त है। उसमें धर्म का सापेक्ष प्रभाव है। धर्म के प्रभाव से निरपेक्ष होकर कोई भी राजनीति अच्छी नहीं चल सकती, हालांकि राजनीति के कुछ अपने मौलिक सिद्धान्त हैं और वहां धर्म की बात मान्य नहीं हो सकती। यदि राजनीति में सर्वत्र धर्म का सिद्धान्त व्याप्त हो तो धर्म और राजनीति को दो मानने की जरूरत ही नहीं होगी। जहां धर्म और राजनीति को एक बना दिया जाता है, वहां न धर्म रहता है और न राजनीति। धर्म का लक्ष्य है आत्मा को पाना। जो लोग ईश्वर में विश्वास करते हैं, उनकी भाषा में ईश्वर को पाना ईश्वरीय संदेशों को स्वीकार करना है। वीतराग के मार्ग पर चलना धर्म का परम कर्तव्य है। इसमें समाज-व्यवस्था आड़े नहीं आएगी। जहां कहीं भी केवल धर्म के आदेशों पर समाज को चलाया जा रहा है वहां धर्म और समाज-व्यवस्था में तालमेल नहीं हो पाया है। वर्तमान युग की धारणाएं बदल गई हैं। समस्याएं जटिल बन गई हैं। इस स्थिति में धर्म के डेढ़ हजार वर्ष पुराने अनेक आदेश अप्रासंगिक हो गए हैं। वे आज की सामयिक समस्याओं के संदर्भ में संगत नहीं लग रहे हैं। आजकल परिवार-नियोजन पर बल दिया जा रहा है। बढ़ती आबादी की समस्या, खाद्य की समस्या आदि को देखते हुए परिवार-नियोजन को महत्त्व मिल रहा है। धर्म में परिवार-नियोजन मान्य नहीं है। यह एक बड़ा द्वन्द्व है और इसका कारण है—दो हजार वर्ष पहले जो सामयिक व्यवस्थाएं दी गई थीं, वे आज उपयोगी नहीं रही हैं।

शाश्वत और सामयिक मूल्य

कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं और कुछ सामयिक। इस संदर्भ में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु ने जो चिन्तन दिया, वह धर्म और राजनीति के संबंध के परिप्रेक्ष्य में बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भिक्षु ने कहा—सामयिक नियम और व्यवस्था को सामयिक मूल्य देना चाहिए। शाश्वत नियम और व्यवस्था को शाश्वत मूल्य देना चाहिए। धर्म सामयिक नियम या व्यवस्था नहीं है। वह जीवन का शाश्वत मूल्य है। "अहिंसा धर्म है"— यह शाश्वत सचाई है। इसका अतीत में भी मूल्य रहा है। यह वर्तमान में भी मूल्यवान है और भविष्य में भी इसका मूल्य बना रहेगा। धर्म का काम है शाश्वत मूल्यों का जीवन में अवतरण करना। राजनीति में कभी कोई शाश्वत मूल्य नहीं होता। हम राजनीति और धर्म के नियमों को मिलाएं नहीं, किन्तु जिसका जितना मूल्य है उसे उतना मूल्य दें। यह अपेक्षित अवश्य है— राजनीति के नियमों पर धर्म के नियमों का प्रभाव रहना चाहिए। धर्म और राजनीति के इस सापेक्ष संबंध का हम समुचित मूल्यांकन करें तो वर्तमान की बहुत सारी समस्याओं का समाधान मिल सकता है। केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, अनेक देशों में समस्याएं उलझती जा रही हैं। शाश्वत और सामयिक मूल्यों की सही समझ उनके समाधान का एक ज्योतिदीप बन सकती है और उससे समाज को एक नया प्रकाश मिल सकता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उत्तराध्ययन और धम्मपद

एक बार कुएं की मुंडेर पर एक राजहंस आ बैठा। कुएं के अंदर एक मेंढक क्रीड़ा कर रहा था। उसने देखा—एक अजनबी पक्षी कुएं की मुंडेर पर बैठा है। मेंढक राजहंस को देखकर बोल उठा—

रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशाल
किं मद्धाम्नोपि बाढं न हि न हि महत् पाप मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थं कूपोदरस्थः सपदि तटगतो दर्दुरो राजहंसं,
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषयाः नापरे येन दृष्टाः।।

कूपमण्डूकता

मेंढक ने राजहंस से पूछा—तुम कौन हो? कहां से आए हो?
मैं राजहंस हूं, मानसरोवर से आया हूं।
तुम्हारा मानसरोवर कितना विशाल है?
बहुत विशाल है हमारा मानसरोवर।
मेंढक ने एक छलांग लगाई, पूछा—क्या इतना बड़ा है?
नहीं, इससे बहुत बड़ा है।
मेंढक ने एक लम्बी छलांग लगाई, क्या इतना बड़ा है?
नहीं, इससे भी बहुत बड़ा है।
मेंढक ने पूरे कुएं की परिक्रमा की, क्या इतना बड़ा है?
नहीं, इससे भी बड़ा है।

मेंढक ने कहा—तुम झूठ बोलते हो? तुम्हारी बात मिथ्या है। मेरे घर से बड़ा तुम्हारा मानसरोवर हो नहीं सकता।

राजहंस ने सोचा—अब यहां ठहरना अच्छा नहीं है। जिसने कुएं को ही देखा है, बाहर की जो विशाल दुनिया है, उसका जिसे पता नहीं है, वह अपने घर को ही बड़ा मानेगा। उसके लिए दुनिया में उससे बड़ा कोई घर नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कवि कहता है—जो नीच व्यक्ति होता है, वह थोड़े में ही अहंकार से भर जाता है।

सीमा से परे

जिसने दुनिया को नहीं देखा है, उसे अपना घर ही सबसे बड़ा लगता है। यह कूपमण्डूकता की बात सारे संसार में चलती है। धर्म का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है। बहुत सारे लोग ऐसे हैं, जो कुएं से बाहर कभी जाते ही नहीं हैं। वे यह नहीं मानते —हमारे से बड़ा भी कोई हो सकता है, किन्तु कुछ आध्यात्मिक व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिन्होंने सचाई को आकाश की भांति अनन्त रूप में स्वीकार किया है। 'विशाल ज्ञानराशि को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता'—यह सचाई जिस व्यक्ति के सामने स्पष्ट होती है, वह सीमा से परे की बात भी सोचता है।

दो परम्पराएं : दो ग्रंथ

हम इस सचाई के संदर्भ में दो परंपराओं का विश्लेषण करें। एक है बुद्ध की परम्परा, दूसरी है महावीर की परंपरा। बुद्ध की परंपरा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—धम्मपद और महावीर की परंपरा का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है—उत्तराध्ययन। हम इन दोनों ग्रन्थों को पढ़ें तो ऐसा लगेगा—उत्तराध्ययन के रचयिता ने धम्मपद से लिया है या धम्मपद के रचयिता ने उत्तराध्ययन से लिया है। दोनों ग्रन्थों को देखने पर बड़ी असमंजस की स्थिति सामने आती है। दोनों ग्रन्थों में तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री भरी पड़ी है।

आचार्यश्री ने संवत् २०२० का चातुर्मास लाडनूं में किया। उस समय 'उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन'—ग्रन्थ लिखा जा रहा था। लेखन के संदर्भ में एक प्रस्ताव आया—उत्तराध्ययन, धम्मपद और महाभारत—तीनों का तुलनात्मक अध्ययन एक निबंध में प्रस्तुत किया जाए किन्तु जब तीनों ग्रन्थों का पारायण किया गया तो धारणा बदल गई। हम लिखना चाहते थे एक अध्याय और लिखा जा सकता था एक बृहद् ग्रन्थ। इतनी समान बातें, समान पद, समान वाक्य और समान अर्थ। तुलना करें तो एक पूरा ग्रन्थ हीं बन जाए।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अलगाव कहां है?

सब धर्म समान हैं, यह स्वर निरंतर सुना जाता है। जब आचार्यवर ने ब्अणुव्रत की अचार-संहिता प्रस्तुत की तब सनातन धर्म के लोगों ने कहा — यह तो हमारी आचार-संहिता है। ईसाई धर्म के अनुयायियों ने कहा — यह हमारी आचार-संहिता है और मुस्लिम भाइयों ने कहा—यह हमारी आचार-संहिता है। सब धर्मों के लोगों ने इस आचार-संहिता को अपनाया, स्वीकार किया और इस दृष्टि से स्वीकार किया कि यह हमारी ही आचार-संहिता है।

प्रश्न होता है—जब अहिंसा, सत्य आदि का प्रत्येक धर्म में समान मूल्य है तो इतने धर्म क्यों? जब सब धर्म इन बातों को समान रूप से स्वीकार करते हैं तो धर्मों में अलगाव की बात क्यों? सब धर्म एक क्यों नहीं हो जाते? जब तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है—अलगाव कहां है? यह प्रश्न नहीं होता—समानता कहां है? किन्तु यह प्रश्न सामने आता है—भेद कहां है? प्रश्न भेद का है, समानता का नहीं। अहिंसा आदि तत्त्व समान हैं, यह आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात है भेद का होना। जो मनीषी व्यक्ति हैं, वे भेद को खोजें, आश्चर्य को खोजें।

अहिंसादीनि तत्त्वानि, समानानि न विस्मयः।
विशेषो विस्मयस्थानं, सोऽन्वेष्टव्यो मनीषिणा।।

प्रश्न है पहुंच का

एक विद्वान् व्यक्ति का काम क्या है? वस्तुतः तुलना करना, समानता खोजना बहुत महत्त्व का काम नहीं है। समानता के तत्त्व बहुत हैं, उन्हें आसानी से खोजा जा सकता है किंतु भेद को खोजना बहुत महत्त्व की बात है। एक मनीषी व्यक्ति के लिए करणीय है—भेद की खोज। यह बात असंगत लग सकती है, किंतु है बहुत महत्त्वपूर्ण। अभेद को खोजना कोई नई बात नहीं है, कोई विशेष बात नहीं है। जहां सत्य की खोज होगी, वहां अभेद तो होगा ही। पर खोजना है भेद को। यह भेद या विशेष ही आश्चर्य का कारण है। मनीषी व्यक्ति यह खोजे—कौन व्यक्ति कहां तक पहुंचा है? महावीर सत्य की खोज में कहां तक पहुंचे? बुद्ध सत्य की खोज में कहां

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तक पहुंचे? ईसा और मोहम्मद साहिब कहां तक पहुंचे? गांधी और मार्क्स कहां तक पहुंचे? आचार्य भिक्षु कहां तक पहुंचे? प्रश्न है पहुंच का। हिमालय की यात्राएं बहुत लोग करते हैं। हिमालय हिमालय है। यह खोज नहीं होती कि हिमालय की खोज कितने लोगों ने की, किंतु खोज का प्रश्न होता है—हिमालय की एवरेस्ट चोटी पर कितने लोग पहुंचे? कितने लोग उससे नीचे की चोटी तक ही पहुंच पाए? हम यह खोज करेंगे तो सारा दृष्टिकोण बदल जायेगा।

कथा के चार प्रकार

जैन आगमों में चार प्रकार की कथाओं का उल्लेख मिलता है—

- आक्षेपणी—ज्ञान और चारित्र के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा।
- विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा।
- संवेजनी—जीवन की नश्वरता, दुःख-बहुलता तथा शरीर की अशुचिता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा।
- निर्वेदनी—कृत कर्मों के शुभाशुभ फल दिखलाकर संसार के प्रति उदासीन करने वाली कथा।

विक्षेपणी कथा

दूसरी कथा है विक्षेपणी कथा। इसके भी चार प्रकार हैं—

- एक सम्यक् दृष्टि व्यक्ति अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन कर फिर दूसरों के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।
- दूसरों के सिद्धांत का प्रतिपादन कर फिर अपने सिद्धांत की प्रस्थापना करता है।
- सम्यक्वाद का प्रतिपादन कर मिथ्यावाद का प्रतिपादन करता है।
- मिथ्यावाद का प्रतिपादन कर फिर सम्यक्वाद की प्रस्थापना करता है।

विक्षेपिणी कथा करने वाला अपने सिद्धांत का प्रतिपादन भी करता है, दूसरों के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी करता है। इसका अर्थ है—तुलनात्मक अध्ययन। तुलनात्मक अध्ययन की परंपरा नई विकसित हुई है, किन्तु हमारे लिए यह नई नहीं है। आचार्य का एक विशेषण आता है—ससमय-परसमयविउ। इसका अर्थ है—आचार्य को स्वसमय—अपने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्वीकृत सिद्धान्तों तथा परसमय – अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों का जानकार होना चाहिए। यदि आचार्य परसमय को नहीं जानता है तो समस्या प्रस्तुत हो जाती है। कोई व्यक्ति परसमय—दूसरों के सिद्धांत का प्रश्न पूछ ले और आचार्य उसका समाधान न दे सके तो अच्छा नहीं लगता। भगवान् महावीर ने परसमय का बहुत प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर दूसरों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कथा का एक प्रकार है—पहले परसमय का प्रतिपादन करना और उसके बाद स्वसमय—अपने सिद्धान्त की स्थापना करना। यह प्रकार भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

विषय तुलनात्मक अध्ययन का

हम उत्तराध्ययन को पढ़ें, धम्मपद को पढ़ें तो बहुत सारी बातें समान मिलेंगी। बुद्ध ने अनित्यता का प्रतिपादन किया। महावीर ने भी अनित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बारह अनुप्रेक्षाओं में एक अनुप्रेक्षा है—अनित्य अनुप्रेक्षा। उत्तराध्ययन में कहा गया—जन्म दुःख है, रोग दुःख है, बुढ़ापा और मृत्यु दुःख है। धम्मपद भी यही कहता है। ये समान बातें हैं। इनमें हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

प्रत्येक घर में प्रतिदिन जो भोजना बनता है, वह सामान्य भोजन होता है। प्रत्येक घर में फुलका बनता है, साग-सब्जी बनती है, रोटी बनती है। यह एक सामान्य परंपरा है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है किंतु जब कोई विशेष अवसर होता है, घर में फंक्शन होता है तब पकवान बनते हैं, तरह-तरह की मिठाइयां बनती हैं। अनेक लोगों को आमंत्रित किया जाता है। जब सामान्य भोजन बनता है तब दूसरे लोगों को भोजन पर नहीं बुलाया जाता। जब विशिष्ट भोजन बनता है तब अतिथियों को बुलाया जाता है या जब कोई अतिथि आता है तब विशेष प्रकार का भोजन बनता है। सामान्यतया हर घर में प्रतिदिन दाल-रोटी बनती है। प्रत्येक आदमी कहता है—बस, दाल-रोटी चाहिए। दाल-रोटी मिल गई तो सब कुछ मिल गया। हमें दाल-रोटी में ही संतोष है।

हर धर्म की दाल-रोटी है—अहिंसा और सत्य। किसी को मत मारो, किसी को मत सताओ, झूठ मत बोलो। प्रत्येक धर्म यह बात कहता है

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

किन्तु यह तुलनात्मक अध्ययन का मूल विषय नहीं है। यदि धम्मपद और उत्तराध्ययन का तुलनात्मक अध्ययन इन सर्वमान्य तथ्यों के संदर्भ में किया जाता है तो कोई नई प्रस्थापना नहीं की जा सकती। हमारा दृष्टिकोण अभेद के साथ-साथ भेद को खोजने का होता है तो कई नए तथ्य सामने आ सकते हैं।

आकाशवाणी की योजना

आचार्यश्री दिल्ली में विराज रहे थे। आकाशवाणी, दिल्ली के अधिकारी आए। आचार्यश्री से प्रार्थना की—हम आपका कुछ समय आकाशवाणी के लिए चाहते हैं। इस निवेदन का कारण बताते हुए उन्होंने कहा—हमारे विभाग की योजना है—दुनिया के जो महापुरुष हैं, महान् संत हैं, उनके जीवन एवं विचारों का संग्रह किया जाए। इस दृष्टि से हमने अनेक महापुरुषों के जीवन और दर्शन का रिकार्ड किया है। आप भी भारत के एक महान् संत हैं। हम चाहते हैं—आपका जीवन-दर्शन और चिन्तन आपकी भाषा में सुरक्षित रहे इसलिए हमें आपका समय चाहिए। सैंकड़ों वर्ष बाद भी कोई व्यक्ति जिज्ञासा करे—अमुक व्यक्ति कौन था? उसके विचार क्या थे? उसका चिन्तन और दर्शन क्या था? उसकी इस जिज्ञासा का समाधान हमारे रिकार्ड में सुरक्षित मिलेगा। पूरी विचारधारा और जीवन-दर्शन संगृहीत रहता है। उसके बारे में कभी भी कुछ जाना जा सकता है, उसी व्यक्ति की आवाज में उसके विचार एवं दर्शन को सुना जा सकता है, विचार एवं दर्शन के क्षेत्र में दिए गए नए अवदान का मूल्यांकन किया जा सकता है।

हमने उनकी बात मान ली और उनकी जिज्ञासाओं को समाहित करने का प्रयत्न किया।

विशिष्टता का बोध : भेद की खोज

वैज्ञानिक जगत् यह मानता है—हम जो कुछ भी बोलते हैं, वह सब आकाशिक रिकार्ड में अंकित हो जाता है। जैन आगमों में कहा गया है—मनःपर्यव ज्ञानी लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व के विचारों को पढ़ लेता है, जान लेता है। आकाश में भाषावर्गणा और मनोवर्गणा के पुद्गल बराबर बने रहते हैं, इसलिए उन्हें पढ़ा जा सकता है। व्यक्ति की आकृति को भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

देखा जा सकता है। आजकल ऐसी विधियां भी आविष्कृत हो रही हैं।

एक व्यक्ति आज जिस स्थान पर बैठा है, दस दिन बान उसी स्थान पर उस व्यक्ति का फोटो लिया जा सकता है। व्यक्ति के शरीर से निरन्तर तदनुरूप आकृति का विकिरण होता रहता है और उस आकृति का फोटो लिया जा सकता है। आकाशवाणी के अधिकारियों का एक प्रश्न था—हिन्दू धर्म और जैन धर्म में भेद क्या है? यह भेद की खोज विशिष्टता की खोज है। केवल समानता की बात करने वाला किसी भी धर्म की विशिष्टता का बोध कैसे कर पाएगा? विशिष्टता का बोध वही कर सकता है, जो भेद को खोजता है।

अन्तर है मूल प्रकृति का

हमारे सामने प्रश्न है—उत्तराध्ययन और धम्मपद में समानता बहुत है किन्तु असमानता क्या है? इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन की मूल प्रकृति को समझना होगा। धम्मपद का एक श्लोक है—

पंच छिंदे, पंच जहे, पंच उत्तरीभावए।

पांच का छेदन करो, पांच का त्याग करो और पांच की भावना करो।

यह एक पहेली है—पांच का छेदन, पांच का त्याग और पांच की भावना। इनमें कुछ बातें समान हैं। पांच का त्याग करो, यह महत्त्व की बात है। त्याग-योग्य पहली बात है— आत्मा नित्य है, इस बात का त्याग करो। इस बिन्दु पर हम उत्तराध्ययन और धम्मपद के प्रकृति-भेद को समझ सकते हैं। बुद्ध कहते हैं—आत्मा नित्य है, यह मानना एक भ्रान्ति है। जब तक यह भ्रान्ति नहीं मिटेगी तब तक सम्यग् दर्शन नहीं होगा, निर्वाण का तो प्रश्न ही नहीं है। महावीर कहते हैं—आत्मा नित्य भी है। यदि हम आत्मा को केवल अनित्य मानेंगे तो कहीं टिक नहीं पाएंगे। यह मत कहो—आत्मा अनित्य है और यह भी मत कहो—आत्मा नित्य है किंतु तुम यह कहो—आत्मा नित्य भी है और आत्मा अनित्य भी है।

चिन्तन की दो धाराएं

दर्शन के क्षेत्र में चिन्तन की दो धाराएं रही हैं— कूटस्थनित्यवाद और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परिवर्तनवाद या परिणामवाद। कूटस्थनित्यवादी कहते हैं—जो जैसा है, वह वैसा ही रहता है। कभी कुछ बदलता ही नहीं है। आत्मा अचल है, नित्य है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। क्षणिकवादी, जो परिवर्तन को ही मान्य करते हैं, उनका कहना है—आत्मा शाश्वत नहीं है। वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। दिए की लौ जल रही है। पूछा जाए—पहले क्षण में जो लौ जल रही थी, क्या वही लौ दूसरे क्षण में जल रही है? क्षणिकवादी का उत्तर होगा—वह लौ नहीं है, जो जल रही थी, वह चली गई। अब जो जल रही है, वह नई लौ है। दीप जलता रहेगा, लौ जलती रहेगी, लेकिन कोई भी लौ एक नहीं होगी। वह प्रतिक्षण नई होगी। बुद्ध कहते हैं—जैसे दिए की लौ प्रतिक्षण बदलती रहती है वैसे ही आत्मा भी प्रतिक्षण बदलती रहती है।

त्रिपदी का सिद्धान्त

महान् दार्शनिक हेरेक्लाइटस ने कहा — नदी के एक पानी पर दो बार पैर नहीं रखा जा सकता। जिस पानी पर अभी पैर रखा है, उसी पानी पर दुबारा पैर नहीं रखा जा सकता, क्योंकि पहले वाला पानी बह चुका होता है और अब का पानी नया है। एक है प्रवाह की धारा और एक है स्थिर धारा। प्रवाह की धारा वह है, जो टिकाऊ नहीं है, स्थिर नहीं है। महावीर ने जो स्थाई है, उसको भी स्वीकार नहीं किया, जो अस्थाई है, उसको भी स्वीकार नहीं किया। महावीर ने स्वीकृति दी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—इस त्रिपदी को। उन्होंने कहा—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है, वही द्रव्य है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें ध्रौव्य है, किन्तु उत्पाद और व्यय नहीं है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें उत्पाद और व्यय है, किंतु ध्रौव्य नहीं है। जो इस त्रिपदी को नहीं जानता, वह जैन धर्म के मर्म को नहीं जानता। ध्रौव्य है तो साथ में उत्पाद और विनाश भी है। परिवर्तन के बीच एक ऐसा तत्व है, जो सदा स्थिर रहता है। यही है ध्रौव्य।

हम लाडनूं शहर का संदर्भ लें। लाडनूं कब से है? कितना प्राचीन है? यदि प्राचीन जैन मंदिर और सरस्वती की प्रतिमा को देखें तो लाडनूं हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है। क्या आज लाडनूं वही है, जो हजार वर्ष पहले

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बसा था? हजार वर्ष पहले का आज कोई आदमी जीवित है? कितने मकान ऐसे हैं जो हजार वर्ष पहले बने हुए हैं? एक प्रवाह चल रहा है, जिसमें सैकड़ों पीढ़ियां अस्तित्व में आईं, विलीन हो गईं। उनका कहीं अता-पता नहीं है। एक व्यक्ति अपनी सात पीढ़ियों के नाम बता देगा लेकिन उससे आगे भी एक परंपरा और प्रवाह रहा है। वह कहां पहुंच पाएगा? कहीं उसे रुकना होगा, थमना होगा, क्योंकि प्रवाह अनादिकाल से चल रहा है और उस तक पहुंचना संभव नहीं है। महावीर ने कहा—इस प्रवाह के बीच में एक वह भी है, जो कभी नहीं बदलता, जो अचल है, अपरिवर्तनीय और स्थाई है।

प्रश्न है मंजिल का

भगवती सूत्र में कहा गया है—**अथिरे पलोट्टई, थिरे नो पलोट्टई।** जो अस्थिर है, प्रवाह है, वह बदलता रहता है। जो स्थिर है, वह कभी नहीं बदलता। इस सिद्धांत के संदर्भ में हम उत्तराध्ययन और धम्मपद को पढ़ेंगे तो हमारी यह दृष्टि स्पष्ट होगी— महावीर की पहुंच कहां थी? बुद्ध की पहुंच कहां थी? हम पहुंच को पकड़ें, अंतिम मंजिल को पकड़ें। बीच में हर बात मिल जाती है। कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है, जो बीच में न मिलता हो। दो विरोधी धाराएं भी मध्य में एक स्थान पर मिल जाती हैं। प्रश्न है—अंतिम मंजिल का। आखिर जाना कहां है? एक गाड़ी बम्बई से दिल्ली की ओर जा रही है और एक गाड़ी दिल्ली से बम्बई की ओर जा रही है। एक स्थान ऐसा आता है, जहां दोनों गाड़ियां मिल जाती हैं फिर दोनों की दिशाएं बिल्कुल भिन्न हो जाती हैं। हम केवल समानता के बिन्दु को पकड़ कर उलझ न जाएं। हमें समानता को भी समझना है, असमानता को भी समझना है। असमानता के बिन्दु क्या हैं? भेद कहां है? किस व्यक्ति ने कौनसी नई बात कही है? यह खोजना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अहिंसा : सामान्य निर्देश

अहिंसा के संदर्भ में एक सामान्य उपदेश है— 'किसी प्राणी को मत मारो।' ढाई हजार वर्ष पहले महावीर ने कहा—**सव्वे पाणा ण हंतव्वा।** बुद्ध ने भी इस बात पर बल दिया। आचार्य हरिभद्र, आचार्य भिक्षु आदि अनेक आचार्यों ने इस बात को बहुत मूल्य दिया। आज भी धर्म के प्रवक्ता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

इस बात के महत्त्व को समझा रहे हैं। 'किसी को मत मारो'— यह अहिंसा का सामान्य निर्देश है। अहिंसा के संदर्भ में इससे हटकर भी कुछ नई बातें कही गई हैं। महावीर ने कहा— पानी के जीव को कोई मार रहा है। वह हिंसा ही नहीं कर रहा है, चोरी भी कर रहा है।

अहिंसा : नई स्थापना

आज विज्ञान के क्षेत्र में एक शब्द बहुत प्रचलित है—नई स्थापना। यह शब्द तर्क और दर्शन के क्षेत्र में भी चलता रहा है। महावीर की पहली नई स्थापना है—पानी में जीवत्व की स्वीकृति। दूसरी नई स्थापना है—सचित्त पानी पीना हिंसा ही नहीं, चोरी भी है। प्रश्न प्रस्तुत हुआ—पानी पीने में पानी के जीव मरते हैं, वह हिंसा है लेकिन चोरी कैसे है? उसे चोरी कैसे कहा जा सकता है? महावीर ने उत्तर दिया—वह चोरी भी है। प्रतिप्रश्न किया गया—एक व्यक्ति तालाब का पानी पीता है और वह तालाब के मालिक की आज्ञा लेकर पानी पीता है। वह चोरी कैसे है? यदि वह मालिक की आज्ञा के बिना पानी पिए तो उसे चोरी कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। महावीर ने कहा—जो व्यक्ति पानी पीता है, वह तालाब के मालिक की आज्ञा तो लेता है किन्तु जिन पानी के जीवों को अपनी प्यास बुझाने के लिए मार रहा है, क्या उन जीवों की भी आज्ञा लेता है? क्या वह व्यक्ति कहता है— 'भाई! मैं तुम्हें मार रहा हूं, तुम मुझे आज्ञा दे दो।' आज्ञा लिए बिना पानी के जीवों का आहरण चोरी है।

भूल का अहसास

संन्यासी जा रहा था। मार्ग में तालाब आ गया। तालाब में कमल के फूल खिले हुए थे। कमल के फूलों की भीनी-भीनी सुगंध आ रही थी। संन्यासी का मन सुंगध में उलझ गया। वह बहुत देर तक फूलों की सुगंध लेता रहा। तालाब का मालिक खड़ा-खड़ा देख रहा था। उसने कहा—संन्यासी! चोरी कर रहे हो? यह सुनकर संन्यासी अवाक् रह गया। उसने सोचा—मैंने फूल को तोड़ा नहीं, चोरी कैसे हुई? शायद भ्रम हो गया है। संन्यासी बोला—भाई! जिसने तुम्हारा यह कमल तोड़ा था, वह तो मुझसे पहले ही चला गया। क्या तुमने उसको नहीं देखा था?

मालिक बोला—हां, देखा था।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जिसने कमल का फूल तोड़ा, चोरी की, उसे कुछ नहीं कहा। मैंने फूल तोड़ा ही नहीं, केवल सुगंध ले रहा हूं, फिर भी तुम मुझे चोर ठहरा रहे हो?

तालाब का मालिक किसान था। उसने बहुत मर्म की बात कही— महाराज! वह गृहस्थ था, संन्यासी नहीं। उसने भी चोरी की है। पर आप सुगंध किसकी आज्ञा से ले रहे थे? कमल की आज्ञा ली? मेरी आज्ञा ली?

नहीं।

क्या बिना आज्ञा किसी अन्य वस्तु का उपयोग करना चोरी नहीं है?

फिर आप कैसे कह सकते हैं मैंने चोरी नहीं की?

संन्यासी को अपनी भूल का अहसास हो गया

असमानता की खोज : मौलिकता की खोज

महावीर की यह मौलिक स्थापना है—'पानी में जीव है'—जीव को मारना हिंसा ही नहीं, चोरी भी है। आज हमें यह खोजना है—अध्यात्म के किस आचार्य ने क्या मौलिक अवदान दिया? क्या नई स्थापना की? हम लोग समानता की बात तक अटक जाते हैं। यह एक बहुत बड़ा भ्रम हो गया— सब साधु समान हैं, सब संप्रदाय समान हैं, सब धर्म समान हैं। इस केवल समानता-समानता की रट में मौलिकता उपेक्षित हो गई। कुछ बातें समान होती हैं तो कुछ बातें ऐसी भी होती हैं, जो धर्म-दर्शन की विशिष्टता को रेखांकित करती हैं। हम अपनी धारणा को स्पष्ट करें—समानता को खोजें तो साथ-साथ असमानता को भी साफ-साफ समझें। जब असमानता की बात समझ में आएगी, मर्म-बिन्दु समझ में आ जाएगा।

हम धम्मपद को पढ़ें, उत्तराध्ययन को पढ़ें, कुरान, बाइबिल और पिटकों को पढ़ें, इन सबको आदर के साथ पढ़ें। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। जैनधर्म ने उदारता के साथ यह स्वीकृति दी—स्व-समय को जानो, पर-समय को भी जानो। यह नहीं कहा गया—दूसरों की पुस्तकें मत पढ़ो, उन्हें नष्ट कर दो। संवत् २००५ की बात है। आचार्यवर ने कहा—समाजवाद-साम्यवाद को जानना है। आज की मान्यताओं को हमें जान लेना चाहिए। दूसरों को आश्चर्य हुआ— आचार्यश्री ने यह आज्ञा कैसे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दे दी? साम्यवाद को पढ़ रहे हैं, कहीं नास्तिक न बन जाएं, कम्युनिस्ट न बन जाएं। मैंने समाजवाद और साम्यवाद का गहरा अध्ययन किया तब अनेक जैन विद्वानों ने तो यह भी कह भी दिया कि मुनि नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) साम्यवादी बन गए हैं, नास्तिक हो गए हैं, लेकिन ऐसा कुछ हुआ नहीं।

सत्य का विराट् दर्शन

हम समग्रदृष्टि से पढ़ें। यह उदारता जैनधर्म में सहज प्राप्त है। हम इस उदारता के साथ-साथ यह बात भी समझें—सम्यक्वाद का कथन कर, मिथ्यावाद का कथन करें और मिथ्यावाद का कथन कर सम्यक्वाद की स्थापना करें। यह तुलनात्मक अध्ययन का नया दर्शन है। जो लोग तुलनात्मक अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें विक्षेपणी कथा का सूत्र जरूर पढ़ लेना चाहिए। आज तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में पाश्चात्य और भारतीय चिन्तन परंपरा में काफी कुछ लिखा गया है, पर तुलनात्मक अध्ययन का एक समग्र दर्शन, जो इस सूत्र में उपलब्ध है, वह बहुत महत्त्व का है। इस दर्शन के साथ हम उत्तराध्ययन, धम्मपद या किसी भी ग्रन्थ को पढ़ें तो सत्य का विराट् दर्शन होगा। जैसे योगीराज कृष्ण ने अर्जुन को अपने मुंह में विराट् का दर्शन कराया था वैसे ही इस सूत्र के संदर्भ में हमें सत्य का विराट् दर्शन उपलब्ध हो सके तो तुलनात्मक अध्ययन और अन्वेषण की सार्थक परिणति का साक्षात् होगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उत्तराध्ययन और महाभारत

समाज या राष्ट्र के जीवन को समझने के लिए साहित्य बहुत बड़ा माध्यम है। व्यक्ति आता है, चला जाता है। वह अपने पीछे कुछ छोड़ जाता है। एक परंपरा चलती है और वह समाप्त नहीं होती। परंपरा में जो मोड़ आते हैं, बदलाव आते हैं, वे साहित्य में लिखे होते हैं। आज का प्रसिद्ध शब्द है पीढ़ियों का अंतराल। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी बदल जाती है। बदलती तो वह पीढ़ी भी है किन्तु दूसरी पीढ़ी में निश्चित बदलाव आ जाता है। रहन-सहन, खान-पान, चिन्तन सब कुछ बदल जाता है। हम पचास वर्ष का राजस्थान का जीवन-क्रम देखें। खान-पान में परिवर्तन आ गया है, रहन-सहन बदल गया है, मकान बनाने का क्रम बदल गया है। चिन्तन तो बदला ही है। पहले महिलाएं पर्दे में बैठती थीं। आज पर्दे हट गए हैं। जोधपुर में महिलाएं दो पर्दों में बैठती थीं। आज वे दोनों हट गए हैं। इस बदलाव को जानने के लिए इतिहास और साहित्य बड़े माध्यम होते हैं। अगर साहित्य न हो तो सारा अतीत अंधकारमय बन जाए, कुछ भी ज्ञात न हो पाए।

साहित्य की उपयोगिता

साहित्य न होने का अर्थ है — अतीत का लोप। केवल वर्तमान बहुत दरिद्र होता है। वह समृद्ध तभी होता है जब उसका अतीत समृद्ध होता है। हजारों-हजारों वर्षों के अंतराल में जो कुछ घटित हुआ, जो कुछ सोचा गया, अनुभव किया गया, वह मिल जाता है तो समाज समृद्ध बनता है। हिन्दुस्तान इस अर्थ में बहुत समृद्ध है। उसके पास पांच हजार वर्ष का इतिहास या साहित्य उपलब्ध है। उससे पीछे का समाप्त हो गया, फिर भी पांच हजार वर्ष कम नहीं हैं। दुनियां में एक-दो राष्ट्र ऐसे हैं जो इस दृष्टि से आगे हैं। इतिहास और साहित्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का समृद्ध अतीत भारतीय जनता के लिए प्रेरणा का कार्य करता है।

रामायण और महाभारत

साहित्य की कई धाराएं हैं। उस साहित्य की धारा में दो महाकाव्य माने जाते हैं— रामायण और महाभारत। हम महाभारत की चर्चा करें। दिल्ली दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक ने महाभारत को एक नया जीवन प्रदान कर दिया है, एक नई स्मृति दिला दी है। आज जिसका नाम महाभारत है, पहले उसका नाम महाभारत नहीं था। उसका पहला नाम था 'जय'। श्लोक-संख्या भी बीस-तीस हजार से अधिक नहीं थी। शायद और भी कम रही होगी। उसका रूप बदला, प्रक्षेप होता चला गया, श्लोक बढ़ते चले गए। 'जय' नाम बदला और 'भारत' नाम से यह महाकाव्य जाना जाने लगा। जैन आगम नंदी सूत्र और अनुयोगद्वार में महाभारत का नाम मिलता है 'भारत'। बीस-इक्कीस हजार श्लोक वाले इस ग्रंथ में आज लाख से भी अधिक श्लोक माने जाते हैं। कितना प्रक्षेप हो गया। बहुत प्रक्षेप होता गया, ग्रन्थ परिमाण बढ़ता चला गया। सचमुच 'भारत' महाभारत बन गया। आज रामायण और महाभारत—दो कहावतें बन गई हैं। जहां कहीं थोड़ा बहुत झंझट होता है तो लोग कहते हैं — क्यूं रामाण करे। रामायण रामाण बन गई और झगड़ा महाभारत बन गया।

संकलन ग्रंथ

महाभारत सचमुच महाभारत है, एक विशाल ग्रंथ है। जो कुछ अच्छा लगा, उसके साथ जोड़ दिया गया। पहले कहा जाता था—व्यास का है महाभारत। आज यह कितने लोगों का है, कहा नहीं जा सकता। दस-बीस या न जानें कितने लोगों ने उसे बढ़ाया और इतना विशाल आकार दे दिया। जिसको जो चीज अच्छी लगी, उसने इसके साथ उसे जोड़ दिया। ऐसा लगता है— हिन्दुस्तान में जितना विचार था, जितना चिन्तन था, जितनी धर्म की धारणाएं थीं, समाज की धारणाएं थीं, उन सबका समावेश कर दिया गया। इसीलिए महाभारत में बहुत विरोधी बातें मिलती हैं। एक विचार से, एक लक्ष्य से जो लिखा जाता है,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

उसमें विरोधी बातें नहीं होतीं। जहां संग्रह होता है, समावेश होता है वहां विरोधी बातें भी संकलित हो जाती हैं।

एक अतिशयोक्ति

महाभारत एक संकलन ग्रंथ है। जो भी अच्छा लगा, इसमें जोड़ दिया गया। जैन दर्शन की जो बात अच्छी लगी, महाभारत के साथ जोड़ दी गई। बौद्ध दर्शन की जो बात अच्छी लगी, उसे भी जोड़ दिया गया। जितनी धाराएं थीं, उनको जोड़कर एक सागर बना दिया गया। एक ऐसा समुद्र, जिसमें आकर सारी धाराएं मिल जाती हैं। इसीलिए शायद यह कहा गया – जो कुछ खोजना चाहो, महाभारत में मिल जाएगा। जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। हालांकि यह एक अतिशयोक्ति है। इसमें बहुत सारी बातें हैं, यह तो कहा जा सकता है लेकिन जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महाभारत : कुछ स्पष्ट तथ्य

महाभारत के संदर्भ में कुछ बातें बहुत स्पष्ट हैं। महाभारत कोई एक ग्रन्थ नहीं है, वह अनेक ग्रंथों का संकलन है। वह किसी विचारधारा का प्रतिनिधि ग्रंथ नहीं है, अनेक विचारधाराओं का समवाय है। किसी एक धागे से यह कपड़ा नहीं बुना गया है। अनेक रंग के धागों से बुना हुआ है यह कपड़ा। इसमें नाना प्रकार के रंग भरे गये हैं– लाल, पीला, नीला, काला, हरा, सफेद आदि। इसकी बुनावट भी एक तरह की नहीं है, अनेक प्रकार की है।

महाभारत और उत्तराध्ययन

हम महाभारत के संदर्भ में उत्तराध्ययन पर विचार करें। उत्तराध्ययन एक छोटा ग्रंथ है। उसका श्लोक-परिमाण दो हजार माना जाता है। कहां सवा लाख पद्य-परिमाण और कहां दो हजार पद्य परिमाण! बहुत छोटा ग्रंथ और वह भी एक विषय का ग्रंथ। उत्तराध्ययन के रचनाकार का उल्लेख भी नहीं मिलता। यह एक- कर्तृक है या संकलन है, इसका निर्णय करना भी कठिन है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस संदर्भ में कुछ खोजें की हैं और उनका निष्कर्ष है – उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन एक बार संकलित हुए हैं और शेष अठारह अध्ययन बाद में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जोड़े गए हैं। यह निर्णय रचना-शैली के आधार पर। छंद और विषय-वस्तु के आधार पर सामने आया है। दो बार में किया गया यह संकलन एक-कर्तृक है या बहुकर्तृक, यह प्रश्न आज भी अनिर्णीत है। एक अध्ययन ऋषिभाषित जैसा है। किसी प्रत्येक-बुद्ध मुनि ने एक अध्ययन रचा और वह इसमें संकलित हो गया। यह ग्रंथ भी एक प्रकार का संकलन ग्रंथ है। अलग-अलग अध्यायों का संकलन। इसमें छत्तीस अध्ययन हैं, जिनमें तत्त्वविद्या का निरूपण भी है, आचार-शास्त्र का प्रतिपादन भी है, कथा और दृष्टांतों का संकलन भी है, जीवनवृत्त भी हैं और प्रश्नोत्तर भी हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टयी

महाभारत में चार पुरुषार्थों का वर्णन है। काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष — ये चार पुरुषार्थ भारतीय जीवन की समग्रता माने गए हैं। समग्र जीवन उसका होता है, जिसमें अर्थ भी होता है, काम भी होता है, धर्म और मोक्ष भी होता है। यह समग्र जीवन की भारतीय कल्पना है। भारतीय चिन्तन के अनुसार इन चार पुरुषार्थों से परिपूर्ण जीवन ही जीवन माना जाता है। महाभारत में इन चारों पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है। उसमें काम को भी बहुत प्रधानता के साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रश्न हुआ — धर्म, अर्थ और काम — इन तीनों में प्रधान कौन है? महाभारतकार कहते हैं — काम प्रधान है, धर्म और अर्थ गौण हैं। यह बात उत्तराध्ययन में मान्य नहीं है। उत्तराध्ययन कोरा अध्यात्म-शास्त्र है। उसमें धर्म और मोक्ष — दो पुरुषार्थों का ही विवेचन है। महाभारत में पुरुषार्थ चतुष्टयी का वर्णन है इसलिए वहां काम को भी सबसे बड़ा श्रेय मान लिया गया।

संदर्भ : राजनीति

महाभारत में राजनीति का विस्तृत वर्णन है। महाभारत कहता है — दण्ड न हो तो सारी प्रजा नष्ट हो जाए। दण्ड ही शासन कर रहा है। जहां दण्ड का प्रसंग है, उत्तराध्ययन कहता है — मिथ्या दण्ड का प्रयोग हो रहा है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दण्ड दे, एक विवेकशील आदमी दूसरे आदमी को दण्ड दे, यह न्याय नहीं है, मिथ्या

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दण्ड है। उत्तराध्ययन का स्वर है – पत्थर फेंकने वाला व्यक्ति पहले अपने आपको देखे। यह अध्यात्म का स्वर है। अध्यात्म की भूमिका पर खड़ा होकर व्यक्ति वही बोलेगा, जो उत्तराध्ययन बोल रहा है। समाज की भूमिका पर, दंडनीति और राजनीति की भूमिका पर खड़ा होकर व्यक्ति जो बात कहेगा, वह महाभारत में मिल सकती है, उत्तराध्ययन में नहीं।

भूमिका-भेद

हम इस भूमिका-भेद को समझें। जहां चार पुरुषार्थों की मान्यता है वहां दंड का समर्थन भी मिलेगा, हिंसा का समर्थन भी मिलेगा, काम और अर्थ का समर्थन भी मिलेगा, अहिंसा और सत्य का समर्थन भी मिलेगा। महाभारत में अहिंसा का बहुत सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है। कहा गया – खेती करना भी हिंसा है। यह बात जैन आगमों में मिलेगी या महाभारत में। महाभारत में पूरा एक प्रकरण है, जिसमें यह बताया गया है कि खेती किस प्रकार से हिंसा है। ऐसा लगता है – वह प्रकरण जैन विचारों के आधार पर लिखा गया है। अन्यथा इतनी सूक्ष्मता उसमें नहीं आती।

अध्यात्म की भूमिका पर

उत्तराध्ययन और महाभारत की प्रकृति को समझना आवश्यक है। हम अध्यात्म की भूमिका को पढ़ें। उत्तराध्ययन में महावीर गौतम को संबोधित करते हुए कहते हैं – गौतम! तुम याद करोगे, आने वाली पीढ़ियां याद करेंगी – आज तीर्थंकर नहीं हैं। धर्म के मार्गदर्शक बहुत हैं। हम किसकी बात को स्वीकार करें और किसकी बात को अस्वीकार करें। यह एक बड़ा प्रश्न होगा। यही स्वर महाभारत में है – यदि एक शास्त्र होता तो श्रेय प्रकट हो जाता किन्तु आज शास्त्र एक नहीं है। कितने शास्त्र बन गए हैं। श्रेय को गुफा में डाल दिया गया है। उसका पता ही नहीं चल पा रहा हे। तर्क भी प्रतिष्ठित नहीं है। धर्म का सारा तत्त्व उसमें छुप गया है। महाभारत में युधिष्ठिर के सामने ये सारी बातें आ रही हैं और उसका एक पूरा प्रकरण है। यह कथन कितना महत्त्वपूर्ण है – शास्त्र एक नहीं है, बहुत हैं, इसलिए श्रेय तत्त्व छिप

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गया है—

शास्त्रं यदि भवेदेकं, श्रेयो व्यक्तं भवेत्तदा।
शास्त्रैश्च बहुभिर्भूयः श्रेयो गुह्यं प्रवेशितम्।।

अर्थ और काम की भूमिका पर

चिन्तन की धारा में कितनी समानता है लेकिन यह अलग भूमिका की बात है। हम इस भूमिका-भेद को स्पष्ट जानें। जहां जहां महाभारत में अध्यात्म का चिन्तन है वहां वहां उत्तराध्ययन और महाभारत को एक तराजू में रखा जा सकता है। एक तराजू के दो पल्ले हैं। एक पल्ले में महाभारत को रखें और दूसरे में उत्तराध्ययन को। दोनों सम रहेंगे। न कोई ऊँचा होगा और न कोई नीचा। अध्यात्म की भूमिका में कोई अंतर हो ही नहीं सकता। जहां अर्थ और काम का प्रश्न है वहां उत्तराध्यंयन और महाभारत का चिन्तन दो विपरीत दिशाओं की भांति कहीं नहीं मिलता। अर्थ के संदर्भ में महाभारत कहता है – अर्थ के बिना आदमी को पूछता कौन है? निर्धन आदमी बड़ा निर्बल होता है। सबसे पहले धन का अर्जन करो। धन ही सब कुछ है। महाभारत में धन को बहुत मूल्य दिया गया है। काम और दंडनीति का भी प्रबल समर्थन किया है। उत्तराध्ययन में इन सबको कोई स्थान नहीं है। उत्तराध्ययन और महाभारत की तुलना से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि जहां महाभारत पुरुषार्थ चतुष्टयी का वर्णन करने वाला ग्रंथ है वहां उत्तराध्ययन केवल दो पुरुषार्थों – धर्म और मोक्ष का प्रतिपादक ग्रंथ है।

विमर्शनीय प्रश्न

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है – जैन धर्म परिपूर्ण धर्म नहीं है और इसलिए नहीं है कि उसने काम और अर्थ के बारे में अपनी नीति स्पष्ट नहीं की। एक साधु के लिए जैन धर्म परिपूर्ण धर्म है लेकिन एक गृहस्थ के लिए वह परिपूर्ण धर्म नहीं है। क्योंकि उसमें समाज का चिन्तन नहीं है। यह प्रश्न बहुत बार आता है। साहू शांतिप्रसादजी जैन ने अनेक बार कहा – महाराज! जब भी आप प्रवचन सुनाते हैं तब बार-बार यह कहते हैं – साधु ऐसा नहीं करता,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साधु को ऐसा नहीं करना चाहिए, साधु को ऐसा करना चाहिए। साधु कौन होता है? साधु का धर्म क्या है आदि आदि। पर आप हमें यह सब क्यों सुनाते हैं? क्या हम साधु हैं? साधु-धर्म हमारे लिए कितना उपयोगी है! आप हमें यह क्यों नहीं बताते कि हम क्या करें और क्या नहीं करें? गृहस्थ को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए?

वस्तुतः यह एक विमर्शनीय प्रश्न है।

साहू शान्तिप्रसादजी जैन कोरे उद्योगपति नहीं थे। वे बहुत श्रद्धालु थे, अध्ययनशील और मननशील व्यक्ति थे। वे कहते – "महाराज! कोरा धन में जीना ही क्या जीना है? वस्तुतः जीना वह है, जिससे व्यक्ति की धार्मिक आस्था को बल मिले।

धर्म कब करें?

धर्म के लिए कोई समय निश्चित नहीं है। आदमी सोचता है – जब बुढ़ापा आयेगा तब धर्म करूंगा। जब वृद्धत्व आएगा तब व्यापार छोड़ दूंगा, धर्मध्यान करूंगा, सत् साहित्य पढ़ूंगा। महावीर ने कहा – जब तक बुढ़ापा न आए, जब तक शरीर में रोग न आए, इन्द्रियां हीन न हों तब तक धर्म करो। जब बुढ़ापा आ जाएगा, रोग से आक्रांत हो जाओगे, इन्द्रियां क्षीण हो जाएंगी, तब कुछ नहीं होगा –

जरा जाव न पीलेई वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

आचारांग चूर्णि तथा अनेक व्याख्या ग्रंथों में यह कहा गया है – चालीस वर्ष के बाद बुढ़ापा आना शुरू हो जाता है, नेत्रशक्ति क्षीण होने लग जाती है। आज वैज्ञानिक इस बात की पुष्टि कर रहे हैं। विज्ञान कहता है – चालीस वर्ष के आस-पास आंख की शक्ति कम होनी शुरू हो जाती है। एक बार मैंने आंखों का परीक्षण कराया। उस समय मैं सैंतीस वर्ष का था। डाक्टर ने परामर्श दिया – महाराज! आपको पढ़ना बहुत पड़ता है, इसलिए अब आपको चश्मा लगा लेना चाहिए, जिससे आंखे ठीक काम करती रहें।

वैज्ञानिक स्वर

चालीस वर्ष की अवस्था आने पर इन्द्रियों का बुढ़ापा शुरू हो जाता

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। जो काम करना है, उसे चालीस वर्ष से पहले पहले पूरा कर लेना चाहिए। यह कितना वैज्ञानिक स्वर है – बुढ़ापा न आए तब तक जो कुछ श्रेय करना है, कर लो। बुढ़ापे के भरोसे नहीं रहना चाहिए। आज का युवक सोचता है – अभी क्या अवस्था है? खूब धन कमाएं, भोग भोगें। धर्म करने की अवस्था तो बाद में है। यह चिन्तन वर्तमान में ही नहीं, अतीत में भी चलता रहा है। उत्तराध्ययन में मुनि बनने के लिए उद्यत अपने पुत्रों से भृगु कहते हैं – यह दीक्षा लेने का समय नहीं है, अभी तुम भोग भोगो। जब अवस्था आए तब मुनि बनना। इस चिन्तन के संदर्भ में महावीर कहते हैं – आज का काम कल पर मत छोड़ो। 'मैं कल करूंगा' यह वही व्यक्ति कह सकता है, जिसने मौत के साथ मैत्री गांठ ली हो।

कथन युधिष्ठिर का

महाभारत का प्रसंग है। युधिष्ठिर के पास कोई याचक आया और उसने किसी वस्तु की याचना की। युधिष्ठिर ने कहा – आज नहीं, कल दूंगा। युधिष्ठिर के इस वाक्य को भीम ने सुना। उसने तत्काल नगाड़े बजाने का आदेश दे दिया। युधिष्ठिर ने कहा – यह असमय में नगाड़े कौन बजा रहा है? नगाड़े क्यों बजाए जा रहे हैं? युधिष्ठिर ने भीम से कहा – भीम! यह क्या कर रहे हो। भीम ने जवाब दिया – महाराज! आज बड़ी खुशी की बात है। आप कालजयी बन गए हैं।

किसने कहा?

आपने ही तो याचक से कहा था – मैं आज नहीं, कल दूंगा। इसका अर्थ है – आपका कल तक जीना निश्चित हो गया। आपने कल तक के लिए मौत को जीत लिया।

युधिष्ठिर ने अपनी भूल स्वीकार की, नगाड़े बजने बंद हो गए।

साम्यबिंदु

हम उत्तराध्ययन और महाभारत के इन दोनों प्रसंगों को मिलाएं। चिन्तन में कितना साम्य है! उत्तराध्ययन और महाभारत में कहीं कहीं तो इतना साम्य है कि सहज ही यह प्रश्न उठ जाता है – संस्कृत का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्राकृत में अनुवाद कर दिया गया है अथवा प्राकृत का संस्कृत में अनुवाद कर दिया गया है। जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य और महाभारत— तीनों को सामने रखें तो यह निर्णय करना कठिन होता है कि किससे किसने लिया। एक निष्कर्ष निकाला गया — शायद कुछ बातें समान थीं, जिन्हें तीनों परंपराओं ने अपना लिया। जैसे लौकिक कहानियां चलती हैं। कहानी पर किसी का अधिकार नहीं होता। उस कहानी का उपयोग जैनों ने भी किया, बौद्धों ने भी किया और महाभारतकार ने भी किया। श्रमण साहित्य भी पुराना था। ऐसे भी कुछ पद्य हैं, जो संभवतः श्रमण साहित्य से लिए गए हैं। उस समय इतनी साम्प्रदायिकता नहीं थी। उस श्रमण साहित्य को जैनों ने भी अपनाया, बौद्धों ने भी अपनाया और महाभारतकार ने भी अपनाया।

समत्व का दर्शन

तुलनात्मक अध्ययन से अनेक समान बातें सामने आती हैं। जो व्यक्ति उत्तराध्ययन को पढ़ेगा, उसे वासी और चंदन — दोनों में समान रहने का दर्शन मिलेगा। उत्तराध्ययन में कहा गया — एक ओर चंदन से अर्चा हो रही है, दूसरी ओर वसूले से काटा जा रहा है। मुनि इन दोनों अवस्थाओं में सम रहे। मृगापुत्र कहता है — मैं ऐसा समता का जीवन जीना चाहता हूं, जिसमें वासी और चंदन — दोनों के प्रति समभाव रहे। यह समता का स्वर, श्रमण परंपरा का स्वर महाभारत में भी मिलता है। महाराज जनक कह रहे हैं — दो आदमी एक साथ मेरे पास आए। एक व्यक्ति के हाथ में था चंदन और दूसरे के हाथ में था वसूला। जिसके हाथ में चंदन था, वह मेरे दाएं हाथ पर चंदन लगा रहा है। जिसके हाथ में वसूला था, वह बाएं हाथ को वसूले से छिल रहा है। दाएं हाथ पर चंदन लगाने वाला और बाएं हाथ पर वसूला चलाने वाला — दोनों मेरे लिए समान हैं।

अध्यात्म की उच्च भूमिका

यह बड़ी विचित्र बात है कि एक ही समय में चंदन से अर्चा हो रही है और वसूले से छिला जा रहा है। ऐसा नहीं कहा गया — कभी कोई आया, चंदन से अर्चा कर चला गया और कभी कोई आया, वसूले से

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रहार कर चला गया। एक साथ होने वाली इन दोनों क्रियाओं में एक जैसी समता की अनुभूति अध्यात्म की उच्च भूमिका की बात है। यह न समाज की भूमिका है, न राज्य की भूमिका है। समाज और राज्य की भूमिका में इन दोनों क्रियाओं को एक जैसा मानना मूर्खता की बात है। चंदन की अर्चा करने वाले और वसूले से प्रहार करने वाले को एक मानें, यह लौकिक समझदारी की बात भी नहीं है। नमक और कपूर को एक जैसा मानना कोई समझदारी की बात नहीं। जहां अध्यात्म की उच्च भूमिका है, समता प्रतिष्ठित हो गई है वहीं अनुभूति का यह स्वर फूट सकता है।

काम और अर्थ को प्रधानता क्यों नहीं

जैन दर्शन में धर्म और मोक्ष को प्रधानता दी गई किन्तु काम और अर्थ को प्रधानता क्यों नहीं दी गई? इस प्रश्न पर भी थोड़ा विचार करें। ऐसा लगता है — अध्यात्म के आचार्यों ने केवल शाश्वत नियमों को ही स्थान दिया। समाज के नियम, काम और अर्थ के नियम, परिवर्तनशील होते हैं। परंपराएं कभी शाश्वत नहीं होतीं। अध्यात्म के आचार्यों के अशाश्वत को नहीं छुआ। जिन धर्मों ने काम और अर्थ को धर्म के साथ जोड़ा, उन्हें धर्म का रूप दिया, वहां रूढ़िवाद और अज्ञान पनपा, कठिनाइयां बढ़ीं। आज से दो हजार वर्ष पहले एक विधान कर दिया गया — कोई चोरी करे तो हाथ काट देना चाहिए। कानों में गर्म शीशा डाल देना चाहिए। इतने क्रूरतापूर्ण दण्डों का विधान किया गया।

चिन्तन में बदलाव

आज सारा चिन्तन बदल गया। इन ढाई हजार वर्षों में चिन्तन में निरन्तर बदलाव आता रहा है। आज कारावासों को सुधारगृह बनाया जा रहा है। कारावास कारावास जैसे नहीं लगते। हमने बस्तंर (बिहार) के कारावास को देखा। ऐसा सुन्दर स्थान, कैदियों के क्रीड़ा करने के लिए ऐसा बढ़िया मैदान। शायद ऐसी सुविधाएं अपने घर और गांव में भी न मिलें। कारावास देखने के बाद हमारे मन में प्रश्न उभरा — यहां आने के बाद शायद बाहर जाने का मन ही नहीं करता होगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आज बाल-सुधार-गृह बनाएं जा रहे हैं। यह चिन्तन प्रबल बन रहा है– दण्ड से मनुष्य को सुधारा नहीं जा सकता। उसे सुधारना है तो सुधार-गृह बनाना होगा।

समाज की भूमिका

ऐसा लगता है – समाज का चिन्तन निरंतर विकास की ओर जा रहा है। यदि हम ढाई हजार वर्ष पहले की बात मानकर चलें तो आंख फोड़ने, कान में शीशा डालने, हाथ काट देने जैसे क्रूर दंड-विधानों को अपनाना होगा। ये हमारे धर्मशास्त्र के कानून हैं। परिवर्तनशील नियमों को शाश्वत नियमों के साथ जोड़ दिया गया इसीलिए यह अज्ञान बढ़ा। जैन आचार्यों ने कभी ऐसी भूल नहीं की। उनका स्पष्ट चिन्तन रहा – हमारी सीमा है अध्यात्म को बताना, धर्म को बताना। समाज की भूमिका बदलती रहती है। उसे कभी धर्म के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। यह काम अर्थशास्त्री और समाजशास्त्री का है।

शाश्वत को अशाश्वत के साथ न जोड़ें

धर्म का काम इतना अवश्य है कि उसमें जो कुछ अवांछनीय लगे, उस पर अंकुश लगाए। काम या अर्थ की कोई बात अवांछनीय लगे तो धर्म का काम है कि वह उस अवांछनीय तत्त्व को हटाने की उत्प्रेरणा बने किन्तु धर्म और मोक्ष के शाश्वत नियमों के साथ अशाश्वत नियमों को जोड़कर उन्हें धर्म का रूप दे दिया जाए, शाश्वत नियमों का स्थान दिया जाए तो वह समाज के लिए भी कल्याणकारी नहीं होगा, धर्म के लिए भी कल्याणकारी नहीं होगा। यह दृष्टि जितनी साफ रहेगी, धर्म और समाज – दोनों का उतना ही भला होगा। उत्तराध्ययन में पुरुषार्थद्वयी का जो प्रतिपादन है, वह सोच-समझकर किया गया प्रयोग है। इन सारे दृष्टिकोणों को सामने रखकर हम उत्तराध्ययन एवं महाभारत को पढ़ें और जो जो सारभूत लगे, उसकी उपासना करें। यदि ऐसा होता है तो तुलनात्मक अध्ययन हमारे सर्वतोमुखी लाभ का कारण बन पाएगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचारांग और गीता (१)

उलझन भरा प्रश्न

हमारी दुनियां में एक आदमी नहीं है। अनेक आदमी हैं। विचार एक नहीं है। अनेक विचार हैं। अनेक व्यक्तियों के विचार तो अनेक हैं ही पर एक आदमी का विचार भी एक नहीं है। एक दिन में कई बार उसके विचार बदलते रहते हैं। अनेक आदमी हैं, अनेक विचार हैं तो अनेक धर्म क्यों नहीं होंगे? अनके संप्रदाय क्यों नहीं होंगे? धर्म भी अनेक बन गए, सत्य भी अनेक बन गए, ग्रंथ भी अनेक बन गए। एक समस्या पैदा हो गई – किस बात को सच मानें और किस बात को झूठ मानें। किस धर्म का अनुगमन करें और किस धर्म का अनुगमन न करें? यह एक उलझन भरा प्रश्न है।

बुद्धि का स्तर : अनुभव का स्तर

यह जगत् नाना वादों से इतना जटिल बन गया है कि योगी की जटा भी इतनी जटिल नहीं होती। इसे सुलझाने का एक ही उपाय है। यह कंघी से नहीं सुलझेगी। उस्तरे से ही इसे सुलझाना होगा। वह उस्तरा क्या है? हम रूपक की भाषा में सोचें। हमारा जो बुद्धि का व्यवसाय है, जो बौद्धिक कसरते हैं, वे कंघिया हैं। उस्तरा है हमारा अनुभव। जहां अनुभव होता है, वहां सारे द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। एकत्व या निर्द्वन्द्व की स्थिति अनुभव के स्तर पर घटित होती है। जिन लोगों ने अनुभव के स्तर पर बात कही है, उनकी बात में कोई अन्तर नहीं है।

स्वाभाविक प्रश्न

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है – सत्य एक है तो फिर वाणियां अनेक क्यों? ग्रंथ अनेक क्यों? इस समस्या को सुलझाने के लिए हम एक सामान्य भूमिका पर आएं और वह यह है कि जो-जो बात अनुभव के स्तर पर कही गई है, उसमें कोई मतभेद नहीं है। जो भी अनुभूति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के स्तर पर पहुंचा, उस भूमिका से उसने जो कहा, वह देशातीत और कालातीत बन गया। अनुभव के स्तर पर कही गई बात, चाहे वह किसी भी समय में, किसी भी आदमी ने कही हो, समान ही होगी। जब हम कभी अनेक विचारकों को पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि क्या किसी ने किसी की बात को लिया है। महावीर, सुकरात, ताओ, कन्फ्यूशियस – सबके विचार, सबका चिन्तन एक जैसा है। क्या किसी ने किसी से लिया है? पर ऐसा नहीं है। वे सब विचार अनुभव के धरातल पर जन्मे हुए विचार हैं। जहां अनुभूति का प्रश्न है वहां कोई अंतर नहीं होता। अंतर होता है बौद्धिकता में। भेद करने वाली है बुद्धि। जहां एकत्व और अद्वैत है वहां बुद्धि के व्यवसाय की जरूरत ही नहीं है। भेद का प्रश्न ही नहीं है।

तात्पर्य को पकड़ें

हम आचारांग और गीता को इस भूमिका पर पढ़ें, अनुभव के स्तर पर पढ़ें। ऐसा लगेगा – दोनों में भाषा का अंतर हो सकता है, शैली का अंतर हो सकता है किन्तु जो तात्पर्यार्थ है, उसमें कोई अंतर नहीं है। हम शब्दों को पकड़ते हैं, तात्पर्य को नहीं पकड़ते। केवल शब्दों के आधार पर आचारांग और गीता को पढ़ेंगे तो ऐसा लगेगा – आचारांग जा रहा है पूरब दिशा में और गीता जा रही है पश्चिम दिशा में। जब हम तात्पर्य में जाते हैं तो ऐसा लगता है – गोल दुनियां में सब मिल जाते हैं, आचारांग और गीता में कोई अंतर दिखाई नहीं देता।

संदर्भ : श्रद्धा

महावीर ने कहा – 'सड्ढी आणाए मेहावी' – जो मेधावी है, वह आज्ञा में श्रद्धावान् होता है। वह ज्ञान के प्रति श्रद्धालु होता है, अपनी सारी सत्ता का नियोजन ज्ञान में कर देता है। आज्ञा का मतलब है अनुभव का ज्ञान। जो अतीन्द्रिय ज्ञान में श्रद्धालु होता है, वह आज्ञा में श्रद्धा करता है। जहां बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है वहां श्रद्धा और समर्पण नहीं हो सकता, संदेह या दुराव होगा।

गीता में श्री कृष्ण कहते हैं :–

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सर्वान् धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

ज्ञान योग, कर्म योग सब झंझट हैं। इन्हें छोड़ो और मेरी शरण को स्वीकार करो। तुम चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्ति दिला दूंगा।

अकर्ताभाव

यह माना जाता है — गीता की शैली अकरण प्रतिपादन की शैली है। करण शैली वह है, जहां अभ्यास की बात आती है — अभ्यास करो और पाओ। आचारांग की भाषा है — अपने मन, चित्त और बुद्धि का भगवान की आज्ञा में नियोजन कर दो। गीता की शैली है — मेरी शरण में आ जाओ। इन दोनों के तात्पर्य में कोई अंतर नहीं है।

गीता में कहा गया है—

अंहकार विमूढात्मा, कर्ताहमिति मन्यते।
नैव किञ्चित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्वविद्।।

जो अंहकार से विमूढ आत्मा है, वह यह मानता है कि मैं कर्ता हूं, किन्तु जो तत्वविद् है, वह यह मानता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं, सब कछ हो रहा है।

समर्पण का स्वर

जहां कर्तृत्व का भाव आया वहां अहंकार का भाव आ गया। तेरापंथ धर्मसंघ में समर्पण की एक परंपरा रही है — कर्तृत्व को स्वयं पर आरोपित नहीं करना। जो तत्त्व को जानता है, गीता के सूत्र को पकड़ने वाला है, उसका स्वर होगा—मैं कुछ नहीं करता हूं, बस हो रहा है।

आचारांग का सूत्रकार कहेगा — सत्य के प्रति समर्पण करो। गीता का सूत्रकार कहेगा — मेरे में चित्त लगाओ। गीता में पुरुष बोलता है और आचारांग में सत्य बोलता है। गीता में कृष्ण का मतलब सत्य से है। एक कृष्ण (सत्य) नहीं होता तो पाण्डवों की क्या दशा हो जाती? हम इन वाक्यों का हार्द पकड़ें। तात्पर्य में अंतर कहां है? आचारांग का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महावीर और गीता का कृष्ण तात्पर्यार्थ में एक ही स्तर पर हैं। शब्दों के भेद को निकाल दें तो साम्य उपलब्ध हो जाएगा।

भरोसा साक्षात्कार पर

समस्या यह है – इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान बड़ा स्थूल होता है। आंख और कान का ज्ञान बड़ा धोखा देने वाला ज्ञान होता है। हमें भरोसा करना चाहिए प्रज्ञा पर, साक्षात् ज्ञान पर। भरोसा करना चाहिए अपरोक्षानुभव पर। आचार्य शंकर ने कहा–

बिना परोक्षानुभवं, ब्रह्म ब्रह्मेति वादिने!

अपरोक्षानुभव तो हुआ ही नहीं और ब्रह्म की बात कर रहे हैं। जब तक साक्षात्कार या प्रत्यक्षानुभूति नहीं होती तब तक किसी के बारे में क्या कहा जा सकता है? शब्दों या शास्त्रों की दुर्दशा केवल मानने वाले अनुयाइयों ने जितनी की है उतनी किसी ने नहीं की। कहने वाले अनुभव के स्तर पर थे और मानने वाले बुद्धि के स्तर पर भी पूरे नहीं हैं।

यात्रा करें सत्य की

भगवान् महावीर ने इस बात पर बहुत बल दिया – मौत को तरना है तो कामना को तरना होगा। शंकर ने तीसरे नेत्र के द्वारा काम को जलाया था। यह मार है, मोहजाल है। इसे कौन तर सकता है? महावीर ने कहा – जो सत्य के ज्ञान में उपस्थित हो जाता है, वही इस मार को तर सकता है। श्री कृष्ण भी यही कहते हैं–

मच्चित्ते सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यति।

सब दुर्गों को पार करने के लिए तुम चित्त को मुझ में लगा दो। मेरे प्रसाद से तुम तर जाओगे।

हम ऊपर के भेदों को छोड़कर जो सत्य है, उसकी यात्रा करें। उससे जैसी अनुभूति होती है, वैसी अनुभूति इन शब्दों के भेदों से कभी नहीं हो सकती।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचारांग और गीता (२)

जीवन को जानना, समझना और जीना बहुत जरूरी है। हम जीवन को जीते हैं, पर उसे जानते नहीं हैं। जीवन के लिए जो करना चाहते हैं, वह करते नहीं। जीवन की शैली वह अच्छी हो सकती है, जिसमें समग्रता हो। जीवन खण्ड-खण्ड नहीं, अखण्ड होना चाहिए। अखंड और समग्र व्यक्तित्व का जीवन जीना शान्ति एवं सुख-सुविधा के लिए जरूरी होता है। जिस जीवन में ज्ञान, कर्म और भक्ति— इन तीनों का योग होता है, वह जीवन अखंड होता है, वह व्यक्तित्व परिपूर्ण होता है।

ज्ञान, कर्म और भक्ति

अखण्ड व्यक्तित्व के लिए ज्ञान का होना जरूरी है, कर्म और भक्ति का होना जरूरी है। कोरा ज्ञान है, जानने की क्षमता है और क्रिया की शक्ति नहीं है तो जीवन खंडित रहता है। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र कुमार जी बहुत बार कहते थे — मेरे पास चिन्तन है, मैं सोच सकता हूं पर कठिनाई यह है कि मेरे में कर्मजा शक्ति नहीं है। जैनेन्द्र जी ने कहा — मेरे मन में आचार्यश्री के प्रति जो अनुराग का भाव है, वह इसलिए है कि आचार्यश्री में ज्ञान के साथ-साथ कर्मजा शक्ति भी है। आचार्यश्री जानते हैं, सोचते हैं और कर डालते हैं। ज्ञान और कर्म — दोनों होते हैं तो भी व्यक्तित्व परिपूर्ण नहीं बनता। आदमी जानता है और उसमें कर्म करने का सामर्थ्य है तो अहंकार के लिए खुला निमंत्रण मिल जाता है। व्यक्ति जानने की शक्ति और कर्म करने की शक्ति — दोनों से संपन्न हो और अंहकारी न हो तो आश्चर्य की बात हो सकती है। जीवन में अहंकार आता है, जीवन टूटना शुरू हो जाता है। अहंकार से बचने का उपाय है भक्ति योग। समर्पण, विश्वास और श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो अहंकार को पनपने का अवसर नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मिलता। जिसमें श्रद्धा, समर्पण और विश्वास नहीं है, अहंकार उस पर हावी हो जाता है।

जीवन की समग्रता

भक्तियोग है परम के साथ अपना संबंध जोड़ लेना। जिसने भक्ति को अपने जीवन में रमा लिया, उसके ज्ञान और कर्म निर्दोष हो जाते हैं। ज्ञान पवित्र है पर आदमी को ज्ञान का भी अहंकार होता है। कर्म तो अहंकार का घर है ही। जब अहंकार प्रबल बनता है, व्यक्ति गिरता चला जाता है। कर्म होता है तो उसके साथ अनेक दोष आ जाते हैं। कर्म की समस्या को सुलझाने के लिए भक्ति का होना बहुत जरूरी है।

उसके बिना जीवन में समग्रता या परिपूर्णता नहीं आती। आज बहुत सारे लोग कर्मठ हैं, कर्म करने में कुशल हैं किन्तु भक्तियोग के अभाव में कर्म स्वयं उलझन पैदा कर रहे हैं। कर्म का चक्र इतना बढ़ गया है कि व्यक्ति का जीवन दूसरों के लिए भार बन रहा है। कर्म के साथ आने वाले दोषों से बचने के लिए भक्ति का कवच पहनना जरूरी है। इस स्थिति में यदि प्रदूषण पैदा हो तो वह भी समाप्त हो जाए।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र

मोक्ष की दृष्टि से विचार करें तो यही तथ्य प्रस्फुटित होता है। तत्वार्थ सूत्र का प्रसिद्ध सूक्त है — 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' हमारी श्रद्धा और विश्वास की शक्ति है सम्यग् दर्शन। हमारे जानने की शक्ति है सम्यग् ज्ञान। हमारा कर्मयोग है सम्यग् चारित्र। इन तीनों की समन्विति मोक्ष-मार्ग है।

भागवत में लिखा है—

योगस्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च, नोपायोन्योस्ति कुत्रचित्।।

ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग श्रेयमार्ग का प्रतिपादन करने के लिए हैं। श्रेय के ये ही उपाय हैं, दूसरे नहीं।

दो तट : एक प्रवाह

आज की भाषा में कहा जा सकता है — समग्र जीवन जीने के लिए

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

तीन योग बतलाए गए। एक है ज्ञान का तट और एक है भक्ति का तट, दोनों के बीच में कर्म की नदी का प्रवाह चले तो जीवन निर्मल रहेगा। यदि प्रवाह के दोनों ओर ज्ञान और भक्ति के तट नहीं होते हैं या तटबंध टूट जाते हैं तो समस्याएं खड़ी हो जाती हैं। इनके बिना समग्र जीवन की व्याख्या नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन जीने का परिपूर्ण रास्ता यही है, शेष सारे रास्ते अपूर्ण हैं।

हम विश्व की स्थिति को देखें। लोगों ने कर्म पर बहुत बल दिया – कर्म करो, उत्पादन करो। उत्पादन और वितरण पर बल दिया, भक्ति पर बल नहीं दिया इसलिए उत्पादन और वितरण की प्रणाली भी सफल नहीं हो सकी। ज्ञान पर, यान्त्रिकी-आभियान्त्रिकी पर बल दिया गया किन्तु साथ में भक्ति का योग नहीं मिला। वे क्रम भी सफल नहीं हो सके। जीवन में जो सरसता आनी चाहिए थी, वह नहीं आ पाई। ज्ञान, भक्ति और कर्म – इन तीनों में एक की भी कमी रह जाती है तो बात पूरी नहीं होती।

एक कमी है

खपुटाचार्य प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। उनके पास आकाशगामिनी सिद्धि थी। हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध रसायन-शास्त्री नागार्जुन ने इसकी उपलब्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया। आकाशगामिनी विद्या को सीखने के लिए वे खपुटाचार्य की उपासना करने लगे। खपुटाचार्य ज्योंहि आकाश से जमीन पर आते, नागार्जुन उनके पैर धोते। आचार्य पैर में कुछ रसायनों का लेप करते थे। नागार्जुन पैर धोने के बाद उस लेप को चखकर उसमें मिश्रित द्रव्यों को जानने का प्रयत्न करते। उस लेप में एक सौ आठ औषधियों का मिश्रण था। नागार्जुन ने उस लेप को चखते-चखते एक सौ सात औषधियां खोज ली। उन औषधियों से नागार्जुन ने लेप का निर्माण भी कर लिया। वे आकाश में उड़ते और थोड़ी दूर जाते ही वापस गिर जाते। नागार्जुन इस समस्या का हल नहीं ढूंढ पाए। उन्होंने आचार्य से निवेदन किया – गुरुदेव! मुझे एक सौ सात चीजें तो मिल गई हैं किन्तु एक तत्त्व का पता नहीं चला। आप कृपा कर बताएं – वह क्या है? आचार्य ने समाधान दिया – इस

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मिश्रण में चावलों का मांड और मिला लो, परिपूर्णता आ जाएगी।

समग्र जीवन की परिभाषा

जीवन की लंबी यात्रा को वही व्यक्ति तय कर सकता है, जिसके जीवन में परिपूर्णता आ जाए। ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग– तीनों मिलते हैं तो जीवन में पूर्णता आती है, जीवनशैली शांतिमय और सुखद बन जाती है। अन्यथा लोग जीते तो हैं किन्तु मर मर कर जीते हैं क्योंकि वे समग्र जीवन की कला को नहीं जानते। भारतीय दर्शन में समग्र जीवन की जो परिभाषा की गई, वह यही है – क्रिया की शक्ति, जानने की शक्ति, समर्पण की शक्ति – सब कुछ विलीन करने की शक्ति – इन तीनों शक्तियों से सम्पन्न जीवन समग्र जीवन है। आचारांग और गीता के तुलनात्मक अध्ययन से समग्र जीवन की यह अवधारणा सहज ही प्रस्तुत हो जाती है।

समता, क्षमता और स्थिरता

आचारांग का अनुशीलन करने पर तीन तत्त्व फलित होते हैं – समता, क्षमता और स्थिरता। महावीर का अहिंसा का सिद्धांत समता पर आधारित है। आचारांग का प्रवक्ता सामर्थ्य के बिना कुछ सोचता ही नहीं है। महावीर ने कहा – मैंने जो पराक्रम किया है, शक्ति का उपयोग किया है, तुम उसे देखो, अपनी शक्ति को मत छिपाओ। अपने सामर्थ्य का पूरा उपयोग करो। महावीर किसी को आलसी देखना नहीं चाहते थे। समता भी है, क्षमता भी है किन्तु स्थिरता नहीं होती है तो भी पूर्णता नहीं आती। जीवन शैली के तीन अंग बन गए– समतामयी जीवन शैली, क्षमतामयी जीवन शैली और स्थिरतामयी जीवन शैली।

गीता का जीवन-दर्शन

गीता के जीवन-दर्शन को देखें। यह विचित्र बात है – युद्धभूमि पर जो बात कही जा रही है, उससे भी यही जीवन का दर्शन फलित होता है। गीता का अध्ययन करने पर भी त्रिआयामी जीवनशैली का स्वरूप सामने आता है। गीता का प्रसिद्ध वाक्य है – समत्वं योग उच्यते। समता को योग कहा गया। योग और संयम – दो बात नहीं हैं। योग

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का अर्थ है— चित्तवृत्ति का निरोध। संयम का अर्थ भी यही है। गीता में उपरति को मूल्य दिया गया है। वृत्ति का मतलब है चंचलता ही चंचलता और उपरति का मतलब है – स्थिरता। गीता में भक्ति का भी बहुत प्रयोग किया गया है। श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं – पश्य मे योगमैश्वर्यम् – मेरे ऐश्वर्यपूर्ण योग को देख।

दर्शन आकाशी कल्पना नहीं है

यदि गीता को मध्यस्थ दृष्टि से पढ़ें तो यह किसी एक दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं लगता। इसमें सर्वसंग्राहिता है। आचारांग और गीता के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य अधिक पुष्ट हो रहा है। समस्या यह है – दर्शन को केवल आकाशी कल्पना जैसा मान लिया गया और उसे जीवन की मुख्य धारा से तोड़ दिया गया। ऐसी मान्यता बन गई – जीवन है जीने के लिए, भोग भोगने के लिए और दर्शन है दिमागी व्यायाम के लिए। इस गलत धारणा से जीवन और दर्शन – दोनों का संबंध टूट गया। यह बहुत बड़ी समस्या है। कोरा तत्त्वज्ञान सीखने से क्या होगा? यदि तत्त्व या दर्शन जीवन में नहीं उतरा तो उसका ज्ञान किस काम का है? तत्त्वज्ञान को कर्म-ज्ञान की संज्ञा में लाएं, उसे जीवन में उतारकर जीवन जिएं तभी दर्शन और जीवन की सार्थकता हो सकती है। हम आचारांग को लें या गीता को लें। ये दोनों जीवन के प्रायोगिक दर्शन हैं। ये केवल जानने के लिए ही नहीं, जीवन में प्रयोग करने के लिए हैं। इन्हें शास्त्रों का भार न बनाएं, इनके मर्म को समझें। यदि दर्शन जीवनमय बन जाए, ज्ञान और आचार अलग-अलग न रहे तो हमारा जीवन परिपूर्णता की ओर बढ़ता चला जाएगा। गीता और आचारांग का मुख्य संदेश यही है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचारांग और उपनिषद् (1)

वर्तमान शिक्षा की एक समस्या है – शिक्षा से बौद्धिक विकास बहुत हो जाता है किन्तु उससे जीवन में आने वाली समस्याओं से जूझने की, उनका समाधान पाने की क्षमता नहीं जागती है या बहुत कम जागती है। यह समस्या आज की नहीं है, उपनिषद् काल में भी यह समस्या रही है।

नारद की समस्या

नारद सनत्कुमार के पास आए और बोले – मुझे ऐसी विद्या दो, जिससे मैं शोक से तर जाऊं।

सनत्कुमार ने पूछा – बताओ! तुमने क्या क्या पढ़ा है?

नारद ने कहा – मैंने ऋग्वेद को पढ़ा है। जितने वेदांग होते हैं, उन सबको सांगोपांग पढ़ा है।

सनत्कुमार बोले – जिससे शोक को तरा जाता है, वह तुमने नहीं पढ़ा है। जब तक तुम आत्मा को नहीं जानते तब तक शोक को नहीं तर सकते।

'शोकं तरति आत्मविद्' – जो आत्मविद् होता है, वही शोक को तर सकता है। संयोग - वियोग की दुनियां में जीने वाला आदमी, जो केवल भौतिक विज्ञान को जानता है, जीवन की समस्याओं का, शोक और विषाद का पार नहीं पा सकता। हर्ष और शोक से परे वही जा सकता है, जो आत्मा को जानता है।

उपनिषद् में आत्मा का बहुत बड़ा प्रकरण है। मूलतः आत्मविद्या पहले क्षत्रियों के पास थी और उनसे वह ब्राह्मणों को प्राप्त हुई।

बदलाव का शक्तिशाली साधन

भगवान् महावीर ने कहा – संग को देखो, आसक्ति को देखो। आसक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मूलकारण है आत्मा

उपनिषद् का प्रसंग है। पूछा गया – यह पात्र क्या है? उत्तर मिला– मिट्टी है। प्रतिप्रश्न हुआ – मिट्टी कैसे है? कहा गया – यह सारा मिट्टी का विकार है। मृदेव सत्यं – सचाई है मिट्टी। मिट्टी मूल है, और सब उसके परिणमन हैं। ठीक इसी प्रकार मूल है आत्मा। जिसने मूल कारण को, आत्मा को नहीं जाना, उसकी वृत्तियां – शोक, हर्ष, भय, ईर्ष्या, लोभ आदि कभी मिटने वाली नहीं हैं। इन विकारों का मूल संबंध हमारी आत्मा की काषायिक परिणति के साथ जुड़ा हुआ है। यदि हम आत्मा को नहीं मानते तो इनका समाधान कैसे होगा? इन सारी समस्याओं को मिटाने के लिए मूल कारण को खोजना होगा और वह है आत्मा।

पराविद्या का मूल्य

कठोपनिषद्, छांदोग्य उपनिषद् और बृहदारण्यक उपनिषद आत्मा के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बहुत सताती है। लोग उसे छोड़ना चाहते हैं पर वह छूटती नहीं है। कारण यह है — हम देखना नहीं जानते। समस्या का समाधान है प्रेक्षा। जब तक हम किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर लेते तब तक वह छूटती नहीं है। आदतों से छुटकारा पाने का यह अचूक उपाय है। चाहे जैसी भी आदत हो, यदि उसे छोड़ना है तो उसका एक मात्र शक्तिशाली साधन है प्रेक्षा। जब व्यक्ति देखना सीख लेता है, आदत अपने आप छूट जाती है। उसे छोड़ने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जो बदलाव प्रेक्षा से आता है, वह अनेक बार पढ़ने-सुनने से नहीं आ सकता। अनेक बार उपदेश पढ़ने-सुनने वाला आदमी जैसा का तैसा बना रहता है और देखने वाले आदमी में बदलाव घटित हो जाता है।

चिन्तन : दर्शन

हम सोचना जानते हैं, देखना नहीं जानते। सोचना मस्तिष्क का काम है पर देखने के लिए और गहरे में जाना होता है। देखने की शक्ति आत्मा की शक्ति है। वह है अनुभव। जहां देखना शुरू होगा वहां चिन्तन एक बार बंद हो जाएगा। चिन्तन और दर्शन — दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। आसक्ति को देखो, आसक्ति छूट जाएगी। उसका साक्षात्कार होगा तो सारी समस्याएं स्वतः सुलझ जाएंगी।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

वारे में बहुत चर्चा करते हैं। जो केवल भौतिक विद्याएं पढ़ते थे, उपनिषद् के ऋषि उनसे कहते – तुम आत्मा को नहीं जानते तो कुछ भी नहीं जानते। जब तक तुम पराविद्या को नहीं जानते तब तक तुम्हारा कोई समाधान नहीं हो सकता। आज की भाषा में जो परामनोविज्ञान को नहीं जानता, वह अपनी समस्याओं को नहीं सुलझा सकता। कोरा मनोविज्ञान काम नहीं देता। मनोविज्ञान सिर्फ मन तक रह जाता है और मन हमारी चेतना का एक नीचे का स्तर है। जब तक आदमी मन की भूमिका पर रहेगा तब तक वह फुटबाल की तरह इधर-उधर उछलता रहेगा। हमें मन के बहुत पार जाना है। जब तक आदमी मनोतीत भूमिका में नहीं जाएगा तब तक मन के खेल चलते रहेंगे। मन की भूमिका से परे जाने पर ही व्यक्ति आत्मा की भूमिका पर आरूढ़ हो सकता है।

आचारांग : आत्मा का सूत्र

आचारांग आत्मा के आरोहण का सूत्र है। हम आचारांग सूत्र का आदि प्रकरण पढ़ें, उसके मध्य को पढ़ें, उसके अंत को पढ़ें – सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। आत्मा को छोड़ दें तो आचारांग कुछ भी नहीं है। महावीर के दर्शन का केन्द्र बिन्दु है – आत्मा। आत्मा को समझे बिना न ध्यान को समझा जा सकता है, न चित्त और मन को समझा जा सकता है। जिस व्यक्ति ने आत्मा को जान लिया, अपने आपको पहचान लिया, उसकी दुनियां बिलकुल अलग हो जाएगी। उपनिषद् का ऋषि बोले या आचारांग का सूत्रकार, सचाई यही है– जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया, उसने दुनियां में आने वाले संकट और समस्याओं का पार पा लिया।

आत्म-विज्ञान

जैन धर्म में आस्था रखने वाले लोग लंबी-लंबी तपस्याएं करते हैं। वर्षावास के दिनों में तपस्याओं का अटूट सिलसिला-सा चल पड़ता है। यह तपस्या की प्रेरणा कहां से आती है? खाने की प्रेरणा तो आ सकती है क्योंकि भूख एक मौलिक मनोवृत्ति है पर भूखे रहने की प्रेरणा कहां से आती है? वह है आत्मा की प्रेरणा। आज एक नई शाखा के विकास की जरूरत है – आत्म-विज्ञान या चित्त-विज्ञान। आत्म-विज्ञान के संदर्भ में कहा जाएगा – जैसे भूख मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है वैसे ही उपवास

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और तपस्या करना आत्मा की एक मौलिक मनोवृत्ति है। आत्मा का स्वभाव तो न खाना है। जो खाया जा रहा है, वह मन के स्वभाव के कारण खाया जा रहा है।

आचारांग और उपनिषद् का रहस्य-सूत्र

आत्मा को पकड़ना मूल बात को पकड़ना है। अगर हम इस मूल सचाई को पकड़ लेते हैं, आत्मा को समझने का प्रयत्न करते हैं तो उपनिषद् का सार भी समझ में आएगा, आचारांग का हृदय भी पकड़ में आएगा और वह सत्य, जो केवल सत्य है, अद्वैत के रूप में हमारे सामने आएगा। जरूरी है शास्त्रों के साथ साथ आत्मा को पढ़ना। इसके बिना शास्त्र कभी सहायक नहीं बनेगा। शास्त्र का काम है दिशा दिखा देना। वह कभी साथ नहीं चलता। हमारे साथ चलेगी हमारी आत्मा इसलिए हम आत्मा के बारे में चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करें, श्रवण, ज्ञान और विज्ञान करें। आत्मा को पा लिया तो आचारांग और उपनिषद् का सम्पूर्ण रहस्य पा लिया, सारे शास्त्रों का ज्ञान हस्तगत कर लिया। आचारांग और उपनिषद् के तुलनात्मक अध्ययन एवं अन्वेषण का अर्थ है — आत्म - साक्षात्कार की दिशा में प्रस्थान।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचारांग और उपनिषद् (२)

चिन्तन : नया पड़ाव

भारतीय तत्त्वचिन्तन में उपनिषद् एक नया पड़ाव है। एक समय था— जब भौतिकवाद का बहुत प्रभाव था और बहुत प्रभाव था देववाद का। प्रकृति का कोई भी कण ऐसा नहीं, जिसमें देववाद का आरोपण न कर लिया गया हो। यह स्थिति बहुत व्यापक बनी हुई थी। उस समय श्रमणों की धारा ने युग को प्रभावित किया। आत्मवाद के द्वारा एक नई शक्तिशाली धारा ने जन्म लिया। उसका संबंध उपनिषद् से भी है। मैं नहीं सोचता कि उपनिषद् कोरा वैदिक साहित्य है। यह व्यापक साहित्य रहा है। जहां से भारतीय चिन्तन में एक नया मोड़ आया है, उपनिषद् की उपस्थिति रही है। भगवान् पार्श्व का समय भारतीय चिन्तन के लिए विशिष्ट समय रहा है। उपनिषद् का समय भी उन्हीं के आस-पास है।

उपनिषद् की स्थापना

अध्यात्मवाद और आत्मवाद ने भौतिकवाद को बहुत प्रभावित किया है। वृहदारण्यक उपनिषद् और औसीतकी का एक प्रसंग है। अभिमानी बालाकी काशीराज अजातशत्रु के पास जाता है। दोनों में वार्तालाप होता है। बालाकी स्वाभिमानी था। उसने आधिदैविक शरीर तक सारी सीमाएं बना रखी थी। काशीराज अजातशत्रु आत्मविज्ञ थे। काशीराज ने कहा — तुम शरीर और पदार्थों पर अटके हुए हो। तुमने आत्मा की कभी अनुभूति नहीं की।

उपनिषद् का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है कि वह आधिदैविक या आधिभौतिक सत्ताओं और कर्मकाण्डों से हटकर एक आत्मा—ब्रह्म की स्थापना करता है। सारी सत्ता चैतन्य की है। चैतन्य ही सब कुछ है, जड़ का कोई अस्तित्व नहीं है। इस सम्बंध में उपनिषद्कारों ने एक नई

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्थापना की। केनोपनिषद् कहता है — 'हमारे इस जगत् में जितनी शक्तियां हैं, वे अनंतशक्ति वाले ब्रह्म की ही आंशिक शक्तियां हैं, केवल अभिव्यक्ति हो रही है।

आचारांग का प्रतिपाद्य

आचारांग इसका समीक्षा सूत्र है। आचारांग ने इस बात को स्वीकार नहीं किया — सारी शक्तियां उस अनंतशक्ति—ब्रह्म की ही आंशिक शक्तियां हैं। यदि उसी ब्रह्म की आंशिक शक्तियां हैं तो क्या वे दानवों में नहीं थी? इस संदर्भ में आचारांग का प्रतिपाद्य यह है — प्रत्येक प्राणी में अपनी अपनी अनंत शक्ति है। केवल एक ब्रह्म में ही अनंत शक्ति नहीं है। चाहे पृथ्वी का जीव है, पानी, अग्नि या वायु का जीव है, प्रत्येक में अपनी अपनी अनंत शक्ति है। हमारी शक्तियों की जो अभिव्यक्तियां होती हैं, वे किसी से उधार ली हुई नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र ब्रह्म है।

बिम्ब : प्रतिबिम्ब

उपनिषद् और आचारांग की स्थापना में यह बहुत बड़ा अन्तर है। उपनिषद् प्रत्येक शक्ति का एक केन्द्र ब्रह्म को मानता है और जगत् को मायाजाल। आचारांग — जैन दर्शन का अभिमत है — कोई भी प्राणी किसी का प्रतिबिम्ब नहीं है। प्रत्येक प्राणी का अपना अपना बिम्ब है। प्रत्येक प्राणी में अपनी स्वतंत्र और अनंत चेतना है। यह अनंत शक्तिवाद है। अनंतशक्ति और स्वतंत्र सत्ता प्रत्येक में है। जिसका अस्तित्व अनावृत हो गया, उसका प्रकट हो गया। जिसका आवृत है, उसका पूरा अभिव्यक्त नहीं हुआ है। यह अभिव्यक्ति का तारतम्य ही नानात्व है।

भेद है आदान का

आचारांग का प्रसिद्ध सूत्र है — **आयाणं निसिद्धा सगडब्भि** — यह एक सूत्र ही सारी स्थापना के दर्शन को बदल देता है। किस व्यक्ति ने बाहर से कितना लिया है? एक आदमी से दूसरे आदमी में अन्तर क्या है? इस भेद के कारण को समझना है। भेद है आदान का, आयतन का। थाली का आयतन छोटा है और नदी का आयतन बहुत बड़ा है। जो

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जितना बाहर से लेगा, वह उतना ही दबा रहेगा। जो व्यक्ति बाहर से जितना कम लेगा, वह उतना ही स्वतंत्र होता चला जाएगा, खिल जाएगा, व्याप्त हो जाएगा। जो जितना कर्ज लेता है, वह उतना ही भार से दब जाता है। अपनी पूंजी से व्यापार करने वालों को कोई चिन्ता नहीं होती। हम सारा का सारा कर्ज ले रहे हैं, बाहर से आयात कर रहे हैं।

आचारांग की प्रस्थापना

जैन दर्शन कहता है — जितना आदान है, उतनी ही हमारी शक्तियां दबी हुई हैं। हम जितना आदान का निषेध करेंगे उतना ही उत्तम होगा, हमारी अनन्त शक्ति का दरवाजा खुल जाएगा।

आचारांग की यह महत्त्वपूर्ण प्रस्थापना है — हम किसी दूसरी शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हैं किन्तु अपनी स्वतंत्र सत्ता से संचालित हैं। जहां उपनिषद् एक ब्रह्म की स्थापना करता है वहां आचारांग अनेक ब्रह्म की स्थापना करता है। जैन दर्शन में एकात्मवाद नहीं, अनेकात्मवाद मान्य है। जहां अनेकात्मवाद मान्य होगा वहां द्वैतवाद की संभावना बहुत बढ़ जाएगी।

जडाद्वैत : चैतन्याद्वैत

यह समझने में बड़ी कठिनाई है कि चैतन्य के द्वारा ही सारा संचालित हो रहा है, चैतन्य में से जड़ उपजा है। एक प्रश्न होता है — जब चैतन्य में इतनी ताकत है कि उसने जड़ को पैदा कर दिया तो चेतना को भरना उसके लिए कौनसी बड़ी बात थी? दूसरा प्रश्न है —अगर चैतन्य से जड़ पैदा होता है तो जड़ाद्वैतवाद, नास्तिकवाद या चार्वाक के इस सिद्धान्त — जड़ में से चेतना पैदा होती है — को कैसे रोका जा सकता है? इस दर्शन के समरांगण में दो सेनाएं आमने-सामने खड़ी हैं — एक है अद्वैतवादी सेना और दूसरी है जड़ाद्वैतवादी सेना। एक का कहना है — सब कुछ चैतन्य से पैदा हुआ है तो दूसरी का कहना है — सब कुछ जड़ से पैदा हुआ है। पहली सेना का मोर्चा जितना शक्तिशाली है उतना ही शक्तिशाली है दूसरी सेना का मोर्चा। यदि चेतन से अचेतन पैदा हो सकता है तो अचेतन से चेतन पैदा क्यों नहीं हो सकता? इस प्रश्न का समाधान करना भी बहुत कठिन है। यदि दोनों को ही सच मान लें, संधि

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कर लें तो बात ठीक हो सकती है। इस स्थिति में यथार्थवाद बहुत समाधानकारक लगता है।

यथार्थवाद

द्वैतवाद का मतलब है यथार्थवाद। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है — चेतन का अपना अस्तित्व और अचेतन का अपना अस्तित्व। लोक व्यवस्था का एक सूत्र है — न कभी ऐसा हुआ है , न कभी ऐसा होता है और न कभी ऐसा होगा कि जीव अजीव बन जाए और अजीव जीव बन जाए। जीव और अजीव — इन दोनों में अत्यन्ताभाव है। दोनों कभी भी एक दूसरे में नहीं बदलते। यही है द्वैतवाद। द्वैतवाद का मतलब है — दुनिया में जो कुछ भी है, उसका मूल कारण एक नहीं है, दो हैं। चेतन और जड़ की अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

समाधान-सूत्र

आज परामनोविज्ञान के क्षेत्र में यह चर्चा का विषय है — शरीर और मन का संबंध कैसे हुआ? शरीर अचेतन—जड़ है और मन चेतन है। दोनों की स्वतंत्र सत्ता है तो दोनों का संबंध कैसे? यह एक समस्या है। इसका समाधान अनेकान्त के द्वारा ही किया जा सकता है। शरीर का चेतना पर और चेतना का शरीर पर प्रभाव होता है, आचारांग की इस बात को स्वीकार करें तो समस्या को एक समाधान उपलब्ध होता है। उपनिषद् एवं आचारांग और इनसे उपजने वाले द्वैतवाद-अद्वैतवाद केवल दार्शनिक पहेली ही नहीं हैं, हमारे जीवन-व्यवहार से जुड़े हुए तत्त्व हैं। इनके आलोक में हम अपने जीवन-दर्शन की मीमांसा कर सकते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्

मेरे सामने दो ग्रंथ हैं—पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम्। पातंजल योगदर्शन दो हजार वर्ष पुराना ग्रन्थ है और मनोनुशासनम् पच्चीस-तीस वर्ष पुराना। दोनों की तुलनात्मक दृष्टि से मीमांसा करनी है। वस्तुतः तुलना करना बहुत कठिन भी है और बहुत सरल भी है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जो किसी एक बिन्दु पर समान न होता हो। एक बिन्दु ऐसा आता है, दोनों ग्रन्थ समान भूमिका पर आ जाते हैं। जहां इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसमें कोई अन्तर नहीं है। ऐसे कुछ बिन्दु और हो सकते हैं, जो एक समान प्रतीत होते हैं किन्तु वह वास्तविक तुलना नहीं है। किस ग्रन्थ की आधार-भूमि क्या है? किस पृष्ठभूमि के आधार पर उसका दर्शन पनपा है, विकसित हुआ है? इन प्रश्नों के संदर्भ में जो तुलना होती है, वह वास्तविक होती है।

धर्म की दो धाराएं

पातंजल योगदर्शन सांख्य दर्शन की साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ है। मनोनुशासनम् जैन साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ है। दोनों के पीछे अपनी-अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। आश्चर्य यह है कि दोनों में बहुत समानता है। दोनों निवृत्तिवादी धारा के प्रतिनिधि ग्रंथ हैं।

धर्म की दो धाराएं रही हैं—प्रवृत्तिवादी धारा और निवृत्तिवादी धारा। प्रवृत्तिवादी धारा का उद्देश्य है—स्वर्ग। निवृत्तिवादी धारा का उद्देश्य है—मोक्ष, निर्वाण या शांति। प्रवृत्तिवादी धारा का साधना मार्ग है—ईश्वर की पूजा करना, ईश्वर की आराधना करना, दान-पुण्य करना आदि। निवृत्तिवादी धारा में जो साधना मार्ग है, उसमें निरोध की बात मुख्य है—आश्रव का निरोध करना, क्लेश का निरोध करना आदि। निर्वाण के लिए निरोध जरूरी है। उसमें ईश्वर पूजा या दान-पुण्य की कोई मुख्यता नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

योग शब्द की व्यापकता

निर्वाण की साधना प्रारंभ होती है निरोध से। पतंजलि ने अपना साधना का मार्ग 'योग' से शुरू किया। आज योग शब्द बहुत प्रचलित हो गया है। यद्यपि जितनी निवृत्तिवादी धाराएं रही हैं, उनमें 'योग' शब्द सामान्य रूप से प्रचलित रहा है। जैन, बौद्ध और सांख्य—इन तीनों में योग शब्द का व्यापक प्रयोग मिलता है। जैन धर्म में योग शब्द के अनेक आयाम विकसित हुए हैं—तपोयोग, भावनायोग, संवरयोग, स्वाध्याययोग आदि आदि। योग की एक समग्र पद्धति रही है। महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन का निर्माण किया और उसमें 'योग' शब्द को बहुत व्यापकता दी। पातंजल योगदर्शन योग का एक व्यवस्थित ग्रन्थ है। साधना के मार्ग में ऐसे व्यवस्थित ग्रंथ बहुत कम हैं। पातंजल योगदर्शन का पहला सूत्र है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**—चित्तवृत्ति का निरोध करना योग है। निरोध है योग। योग का एक अर्थ जोड़ना भी होता है लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में योग का अर्थ है—निरोध, समाधि। कहा जा सकता है—पातंजल योगदर्शन समाधि का सूत्र है। उसमें समाधि की पूरी प्रक्रिया बतलाई गई है।

योग : क्रियायोग

मनोनुशासनम् जैन परंपरा से जुड़ा हुआ ग्रन्थ है। इसमें दो बातें मुख्य हैं—निरोध और शोधन। धर्म के दो प्रकार हैं—संवर और निर्जरा। संवर है—योग-निरोध। निर्जरा है—शोधन। हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करें—निरोध के लिए शोधन बहुत आवश्यक है। संवर की अर्हता—निरोध की योग्यता बाद में प्राप्त होती है। उससे पहले शोधन करना होता है। हम शोधन करें। शुद्धि होते-होते निरोध करने की क्षमता आती है। चित्त-वृत्ति का निरोध करना योग है, यह सूत्र तो ठीक है लेकिन इससे बात पूरी नहीं होती। पतंजलि को दो सूत्रों का निर्माण करना पड़ा—**चित्तवृत्तिनिरोधो योगः** तथा **तपःस्वाध्याय- प्रणिधानानि क्रियायोगः**। योग और क्रियायोग—दोनों आवश्यक हैं। केवल योग से काम नहीं चल सकता, चित्तवृत्ति के निरोध से काम नहीं चल सकता। पहले निरोध होना ही कठिन है इसलिए उसके दो विभाग कर दिए गए—योग और क्रियायोग।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

योग : मौलिक परिभाषा

मनोनुशासनम् उत्तरकालीन रचना है इसलिए उसमें प्रारंभ से ही शोधन और निरोध—दोनों का समावेश है। योग की एक सर्वथा नई परिभाषा, जो शायद किसी भी प्राचीन ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है, मनोनुशासनम् में है। योग की यह बिलकुल मौलिक परिभाषा है—**मनोवाक्काय-आनापान-इंद्रिय-आहाराणां निरोधो योगः। शोधनं च। पूर्वं शोधनं ततो निरोधः।** मन, शरीर, वाणी, आनापान, आहार और इन्द्रिय—ये छह पर्याप्तियां हैं, जीवनी- शक्तियां हैं। इन सारी शक्तियों का निरोध करना, इसका नाम है योग। केवल चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं, इन सबका निरोध है योग। चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थ है मन का निरोध। मन के साथ सारी चित्त की वृत्तियां आ जाती हैं। वाक् का निरोधं, शारीरिक प्रवृत्ति का निरोध, आनापान का निरोध, आहार और इन्द्रियों का निरोध—इन सबका निरोध होता है तब योग—समाधि घटित होती है। विपरीत क्रम से चलें तो सबसे पहले होगा आहार का निरोध। निरोध से भी पहले जरूरी है शोधन।

जरूरी है शुद्धि

अहमदाबाद के एक योग विशेषज्ञ हैं श्री दिवाकर पाण्डे। योग के संदर्भ में उनसे चर्चा चली। श्री दिवाकर पाण्डे ने कहा—जब तक मलों की शुद्धि नहीं होती, योग की बात कभी सफल नहीं हो सकती। केवल स्थूल शरीर के मलों की शुद्धि ही जरूरी नहीं है बल्कि प्राणशरीर और सूक्ष्मशरीर में जो मल जमे हुए हैं, उनकी शुद्धि भी जरूरी है। जैन दर्शन की भाषा में कहें तो कर्मशरीर की विशुद्धि, तैजस शरीर की शुद्धि और तैजस शरीर के द्वारा आभामण्डल—लेश्या की शुद्धि, स्थूल शरीर की शुद्धि—जब तक इन सबका शोधन नहीं होता, निरोध की बात संभव नहीं बनती। रोकना कठिन नहीं है, पर प्रश्न है रोकें कैसे? जब तक शोधन नहीं होता, निरोध का प्रश्न समाहित नहीं होता। रोकने में कितने व्यवधान आते हैं! कितनी प्रतिक्रियाएं होती हैं! हम आदमी की बात छोड़ दें, जड़ वस्तु भी प्रतिक्रिया कर देती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रतिक्रिया : निदर्शन

एक आदमी छाता लिए चल रहा था। धूप आई, उसने छतरी को खोला और सिर पर तान लिया। वर्षा आई तब भी उसने ऐसा ही किया। यह क्रम दस-बीस दिन लगातार चलता रहा। एक दिन छतरी ने हाथ से कहा—तुम मुझे छोड़ दो। यह आदमी मुझे बहुत परेशान कर रहा है। जब भी कुछ कठिनाई आती है, मुझे अपने सिर पर तान लेता है। वर्षा और धूप आती है तो मुझ पर गिरती है। सारा कष्ट मैं सहन करूं और यह आराम से चले, ऐसा नहीं होना चाहिए। तुम ऐसा करो—मुझे हाथ में मत रखो, छोड़ दो, फिर मैं देखती हूं कि क्या होता है? हाथ बोला—तुम भी कितनी नादान हो। तुम यह सोच रही हो कि मैं धूप और वर्षा से रक्षा कर रही हूं, पर तुम यह भी सोचो—तुमको बनाया किसने? आदमी के मस्तिष्क ने ही तुम्हारा निर्माण किया है। अन्यथा तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं होता। उसकी रक्षा करने में तुम्हें कौन-सा कष्ट हो रहा है? तुम्हारा कार्य है त्राण देना, धूप और वर्षा से बचाना।

योग : समग्र परिभाषा

अचेतन में भी प्रतिक्रिया होती है तो चेतन आदमी के मन में न जाने कितनी प्रतिक्रियाएं होती होंगी। जहां निरोध की बात आएगी वहां प्रतिक्रियाएं होंगी। हम सबसे पहले प्रतिक्रियाओं का शोधन करें। जब तक प्रतिक्रियाओं का शोधन नहीं होगा, निरोध की स्थिति संभव नहीं बन पाएगी।

महर्षि पतंजलि ने पहले अध्याय के प्रारम्भ में योग-निरोध की बात कही और दूसरे अध्याय के प्रारंभ में क्रियायोग की बात कही। मनोनुशासनम् में योग की परिभाषा में ही पहले शोधन और उसके पश्चात् निरोध की बात प्रस्तुत है। केवल चित्तवृत्ति के निरोध से योग की पूरी परिभाषा नहीं बनती। चित्तवृत्ति का निरोध और क्रियायोग—दोनों मिलकर योग की पूरी परिभाषा देते हैं।

शोधन तपस्या से

हम तपस्या के द्वारा शोधन करें। व्यास ने तपस्या के संदर्भ में लिखा—**तपः द्वन्द्वसहनम्**—तपस्या का अर्थ है द्वन्द्वों को सहन करना।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास—ये जितने भी परीषह हैं, द्वन्द्व हैं, इनको सहन करना तपस्या है। तपस्या का एक अर्थ है अनशन—आहार शुद्धि। जो व्यक्ति आहार-शुद्धि पर ध्यान नहीं देता, उसे निरोध की कल्पना ही नहीं करनी चाहिए। जो व्यक्ति आहार की शुद्धि को नहीं जानता, अपान की शुद्धि को नहीं जानता, वह निरोध की साधना को नहीं जानता। प्राण से भी ज्यादा है अपान शुद्धि का महत्त्व। इन सबको उपलब्ध होनें के लिए तपना पड़ता है। ऐसा कोई जादू का डण्डा नहीं है, जिसे घुमाया जाए और व्यक्ति योगी बन जाए। यदि ऐसा होता तो सारी दुनिया ही योगी बन जाती। पर ऐसा होता नहीं है।

शोधन को बलवान् बनाएं

बहुत कठिन है निरोध करना। निरोध की भूमिका तक पहुंचने के लिए काफी तप तपना पड़ता है, निर्जरा और शुद्धि करनी होती है। निर्जरा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है, जब निरोध की भूमिका बनती है। व्यक्ति कितने काल से निर्जरा करता चला आ रहा है! अनन्त काल से यह क्रम चल रहा है। प्रत्येक प्राणी निर्जरा करता है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो शुद्धि नहीं करता। प्रत्येक प्राणी थोड़ी-बहुत शुद्धि तो करता ही है। जो साधना के मार्ग में जाना चाहता है, उसके लिए अधिकतम शुद्धि का मार्ग है। साधना के क्षेत्र में जाने वाले व्यक्ति के सामने शोधन और निरोध—दोनों दृष्टियां स्पष्ट होनी चाहिए। पहले शोधन को बलवान् बनाएं। आहार की शुद्धि करें। इन्द्रियों पर जो मल जमा हुआ है, उसे हटाएं। श्वास-प्रश्वास की शुद्धि करें। वचन-तंत्र—स्वर-यंत्र को शुद्ध बनाएं। शरीर और मन को शुद्ध करें। इससे वृत्तियां शुद्ध बनेंगी, निरोध की स्थिति प्राप्त होगी।

समानता का धरातल

पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् के तुलनात्मक अध्ययन से समानता का जो धरातल प्रस्तुत होता है, उसका कारण है—सांख्य दर्शन का जैन दर्शन के अधिक निकट होना। सांख्य, जैन और बौद्ध—तीनों श्रमण परंपरा के दर्शन हैं। सांख्य दर्शन प्राचीन है। बौद्ध दर्शन इतना प्राचीन नहीं है। तीनों दर्शन निवृत्तिवादी हैं। अन्तर यह है—जहां बौद्धों

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

में आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति नहीं है, वहां सांख्य और जैन दर्शन में आत्मा की स्पष्ट स्वीकृति है। इसीलिए सांख्य और जैन दर्शन—दोनों बहुत निकट आ जाते हैं। कुछ पश्चिमी दार्शनिकों ने, जिन्होंने शायद पूरी परंपरा का अध्ययन नहीं किया, यह कल्पना की—जैन दर्शन सांख्य दर्शन से निकला है। अतिनिकटता के कारण ऐसा भ्रम हो सकता है और ऐसा भ्रम हुआ भी है। सांख्य दर्शन में प्रकृति का जो कन्सेप्ट है, वह जैन दर्शन में नहीं है, फिर भी दोनों दर्शनों में बहुत निकटता है, यह कहने में संकोच नहीं होता। इसलिए पातंजल योगदर्शन और मनोनुशासनम् में सामीप्य का होना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु इनमें भेद नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता।

संदर्भ आत्मा का

सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, सर्वथा शुद्ध मानता है। उसकी साधना पद्धति में आत्मा इसी रूप में स्वीकृत है। मनोनुशासनम् में आत्मा को भी परिणामीनित्य मानकर विचार किया गया है। आत्मा में भी पर्याय का परिणमन होता है। जैन दर्शन की दृष्टि से कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, जिसमें परिणमन न हो। सांख्य दर्शन के अनुसार आत्मा अविकारी है किन्तु जैन दर्शन के अनुसार आत्मा वैसा नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार कषाय आत्मा भी है, योग आत्मा भी है। जहां कषाय आत्मा और योग आत्मा है वहां आत्मा के साथ मन भी लगा हुआ है। जैन दर्शन की प्रक्रिया में स्थूल शरीर के बाद तैजस शरीर, तैजस शरीर के बाद कर्म शरीर, कर्म शरीर के बाद कषाय और उसके बाद चैतन्य है। चैतन्य के साथ कर्म परमाणु इतने जुड़े हुए हैं कि एक आत्मा के प्रदेश पर अनंत अनंत कर्म परमाणुओं के स्कन्ध चिपके हुए हैं। जैसे दूध और पानी मिल जाता है वैसी ही स्थिति आत्मा और कर्म की बनी हुई है। जैन दर्शन में साधना की प्रक्रिया केवल शरीर-शोधन की प्रक्रिया नहीं है, आत्म-शोधन की प्रक्रिया भी है। मुख्य है आत्मा। साधना का सारा चिन्तन इसी आधार पर विकसित हुआ है।

संदर्भ अनुप्रेक्षा का

हम विकास की दृष्टि से देखें। मैत्री, प्रमोद, करुणा और

© Jain Vishva Bharati   For Private & Personal Use Only   https://books.jvbharati.org

मध्यस्थता—ये सारी ध्यान की निष्पत्तियां हैं। जो व्यक्ति ध्यान करता है, अध्यात्म की साधना करता है, उसमें इन चारों भावनाओं का विकास होना चाहिए। जिस साधना से ये भावनाएं नहीं जागतीं, वह कोरी प्राण की साधना है। प्राणिक साधना में सिद्धियां होंगी, चमत्कार होंगे, किन्तु आध्यात्मिक साधना की जो निष्पत्तियां हैं, वे भाव-विशुद्धि से जुड़ी होती हैं—अगाध मैत्री का विकास, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता का विकास। ऐसी प्रमोद भावना जागती है, जिससे गुण-ग्रहण की भावना प्रबल बनती है। दूसरों का विकास व्यक्ति को प्रमोद और हर्ष से भर देता है। उसके मन में कभी ईर्ष्या पैदा नहीं होती। जैन दृष्टि से मनोनुशासनम् में भावनाओं का विकास मिलता है। सोलह भावनाओं में से चार भावनाएं पातंजल योगदर्शन में उपलब्ध हैं। साधना की दृष्टि से अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि अनुप्रेक्षाओं का बहुत महत्त्व है। साधना की दृष्टि से यह एक बहुत बड़ा विकास है।

मैत्री साधना नहीं, साधना की निष्पत्ति है। करुणा और प्रमोद, साधना नहीं, साधना की निष्पत्तियां हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास ही साधना है। महावीर ने दीक्षित होने से पहले गृहस्थ जीवन में छह मास तक अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया था। अनित्य अनुप्रेक्षा, एकत्व अनुप्रेक्षा, अन्यत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास होगा तो मैत्री भावना का विकास होगा। मैत्री भावना का विकास इतना आसान नहीं है। प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का भाव इतना प्रबल है कि मैत्री की बात सोचना भी कठिन है। मैत्री और प्रमोदभाव का विकास कोई खिलौना नहीं है, जिसे जब चाहे बाजार से खरीदा जा सके। आदमी की मनोवृत्ति ही ऐसी बनी हुई है कि वह हर कार्य में बुराई देखता है, कठिनाइयां पैदा करना पसन्द करता है।

महान् आदमी का कार्य

एक बार सूरज के मन में विकल्प उठा—मैं दुनिया का कितना उपकार करता हूं। मैं प्रकाश देता हूं, सोए लोगों को जगाता हूं। मेरे उदित होते ही चोरी-डकैती सब बन्द हो जाती हैं। सारे लोग अपने काम-धन्धे में लग जाते हैं। मेरा अस्तित्व है तो सारी दुनिया है। मैं न रहूं तो दुनिया कुछ भी न रहे। मुझे जानना चाहिए—दुनिया मेरे बारे में क्या सोचती है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सूरज ने अपनी पत्नी से कहा—चलो, मनुष्य लोक में चलें। हम देखेंगे—लोगों के मन में हमारे प्रति क्या धारणा है? जनता हमारे बारे में क्या सोचती है? दोनों वेष बदलकर धरती पर आए। दोनों बाजार में गए। वहां बहुत सारे लोग बैठे हुए थे। सूरज बोला—देखो! सूरज कितना अच्छा है। कितना प्रकाश दे रहा है।

एक आदमी बोला—क्या प्रकाश दे रहा है? इस भयंकर गर्मी में सारा शरीर झुलस रहा है। हम तो चाहते हैं—सूरज चला जाए, आकाश में बादल छा जाएं, बरसात आए।

सूरज कुछ आगे बढ़ा, दूसरे मौहल्ले में पहुंचा। अपना वही प्रश्न लोगों के सामने रखा। लोग बोले—सूरज बड़ा धोखेबाज है। अगर कोरी रात होती, अंधेरा होता तो धोखा नहीं होता। सूरज जब छिप जाता है, समस्या पैदा कर देता है। या तो प्रकाश करना नहीं चाहिए और प्रकाश दे तो फिर निरन्तर देना चाहिए।

सूरज ने शहर के अनेक भागों में अपने बारे में होने वाली प्रतिक्रियाओं को सुना। बहुत कम लोग ऐसे मिले, जो सूरज की प्रशंसा कर रहे थे। चारों तरफ अपने बारे में होने वाली नुक्ता-चीनी से सूरज परेशान हो उठा। वह खिन्न स्वर में बोला—इन लोगों का भला करना काम का ही नहीं है। अब हम उगना ही बंद कर देंगे। कल से आएंगे ही नहीं इस लोक में। कहीं एकान्त गुफा में जाकर बैठ जाएंगे।

सूरज की पत्नी ने कहा—महाराज! आप जैसे यशस्वी-प्रतापी राजा को ऐसा चिन्तन शोभा नहीं देता। क्या आप नहीं जानते—क्षुद्र आदमी का काम है ढेला फेंकना और महान् आदमी का काम है उसे झेलना। महान् आदमी क्षुद्र व्यक्तियों के व्यवहार से क्षुब्ध होकर कभी अपना काम बंद नहीं करते।

योग : नई दिशा

यह ढेला फेंकने की बात दुनियां में चलती रहती है। जब तक अनुप्रेक्षाओं का दृढ़ अभ्यास न हो जाए तब तक क्षुद्रता की मनोवृत्ति को मिटाया नहीं जा सकता। अनित्य, एकत्व और अन्यत्व—ये तीन अनुप्रेक्षाएं अध्यात्म जागरण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनके

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बिना अध्यात्म की बात, मैत्री उत्पन्न करने की बात सोची नहीं जा सकती। अनुप्रेक्षाओं का यह विकास, जैन दर्शन की साधना पद्धति में हुआ है, पातंजल योगदर्शन में नहीं हुआ है। ऐसे अनेक बिन्दु हैं, जो मनोनुशासनम् और पातंजल योगदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की आधार-भूमि बन सकते हैं। अपेक्षा है इन दोनों ग्रन्थों के गहन अनुशीलन की। यदि हमारा अध्ययन इस दिशा में आगे बढ़े तो प्राचीन और अर्वाचीन योग को एक नई दिशा उपलब्ध हो सकती है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म और बौद्ध धर्म

आज से ढ़ाई हजार वर्ष पहले का भारतवर्ष। यही भूमि, यही आकाश, यही चांद, सूरज और सितारे। इस धरती पर कुछ परिवर्तन हो रहा था। कुछ क्रांतियां घटित हो रही थीं। विचारों का उद्वेलन हो रहा था। कुछ नई स्थापनाएं सामने आ रही थीं और कुछ पुरानी स्थापनाएं समाप्त हो रही थीं। उस वातावरण में दो महापुरुषों ने जन्म लिया। एक थे महावीर और दूसरे थे बुद्ध। दोनों ने क्षत्रिय राजकुल में जन्म लिया। महावीर इक्ष्वाकुवंश में जन्मे और बुद्ध शाक्यवंश में। महावीर वैशाली गणतंत्र में पैदा हुए और बुद्ध शाक्य गणतंत्र में। दोनों ने गृह का त्याग किया, मुनि बने। महावीर ने श्रमण परंपरा में निर्ग्रंथ परंपरा का उन्नयन किया और बुद्ध ने श्रमण परंपरा में बौद्ध परंपरा को जन्म दिया। ऐतिहासिक दृष्टि से समीक्षा करें तो यह निष्कर्ष निकलेगा—महावीर और बुद्ध — दोनों ने पार्श्व की परंपरा का अनुगमन किया।

पार्श्व का प्रभाव

भगवान् पार्श्व तेईसवें तीर्थंकर थे। महावीर चौबीसवें तीर्थंकर बने। बुद्ध का सीधा संबंध पार्श्व की परंपरा से नहीं जुड़ा किन्तु बुद्ध ने जिस शब्दावली को अपनाया, जिस परिभाषा को अपनाया, वे सारी की सारी शब्दावलियां और परिभाषाएं पार्श्व की शब्दावलियां और परिभाषाएं थीं। उससे ऐसा स्पष्ट होता है—पार्श्व और बुद्ध की भाषा में बहुत निकटता थी, पार्श्व और महावीर की भाषा में बहुत निकटता थी। इसीलिए महावीर और बुद्ध की भाषा भी एक जैसी मिल जाती है। आश्रव, संवर, निर्वाण आदि-आदि जो साधना के शब्द हैं, परिभाषाएं हैं, वे जैन और बौद्ध—दोनों धर्मों में समान रूप से मिल जाती हैं। इसीलिए कुछ पश्चिमी विद्वानों को यह भ्रम भी हो गया—जैन धर्म बौद्ध धर्म से निकला है। यह बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। भ्रान्तिवश ऐसी स्थापना भी कर

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दी गई। वस्तुतः न जैन धर्म का उद्भव बौद्ध धर्म से हुआ है और न बौद्ध धर्म का उद्भव जैन धर्म से हुआ है। दोनों के पीछे जो पार्श्व की परंपरा है, उस परंपरा का प्रभाव—दोनों शाखाओं पर समान रूप से परिलक्षित होता है।

मध्यम मार्ग

भगवान् महावीर ने सारे दार्शनिक जगत् को देखा, दार्शनिक समस्याओं को देखा। समस्याओं का अनुशीलन कर महावीर ने विश्व को समझने के लिए, पदार्थ को समझने के लिए एक सिद्धान्त की स्थापना की और वह सिद्धान्त है अनेकान्तवाद। महावीर ने नित्य और अनित्य— दोनों अतिवादों को स्वीकार नहीं किया। एक अतिवाद है—एकान्त नित्यवाद का, कूटस्थ नित्यवाद का। एक अतिवाद है एकान्त अनित्यवाद का, क्षणिकवाद का। महावीर ने बीच का मार्ग चुना। मध्यम मार्ग है अनेकान्त। बुद्ध ने एकान्त अनित्यवाद का प्रतिपादन किया—जो अस्तित्व है, वह सब क्षणिक है। नित्य कुछ भी नहीं है। नित्य की सर्वथा अस्वीकृति और अनित्य की ऐकान्तिक स्वीकृति। महावीर का जो विचारपक्ष है, वह न नित्य की ओर झुकता है और न अनित्य की ओर झुकता है। उसका नाम है नित्यानित्यवाद। यह ठीक है कि एक प्रवाह अनित्यता का है किन्तु इसके साथ यह भी सही है—कोई भी अनित्यता ऐसी नहीं है, जिसके साथ नित्यता न हो। कोई भी उत्पाद और व्यय ऐसा नहीं है, जिसके मध्य में ध्रुव तत्त्व न हो। कोई भी पर्याय ऐसा नहीं है, जिसके साथ अपर्याय और अपरिवर्तनशील घटक तत्त्व न हो। यह है नित्यानित्यवाद।

दार्शनिक प्रश्न : बुद्ध का चिन्तन

वह समय दार्शनिक चर्चाओं का समय था। वह उपनिषद् का काल था। दर्शन के संदर्भ में बहुत सारे प्रश्न पूछे जा रहे थे। उसी काल में महावीर और बुद्ध आए। उनके सामने भी वे प्रश्न आए। क्या आत्मा है? क्या परलोक है? आदि आदि प्रश्न महावीर के सामने प्रस्तुत किए गए। महावीर ने इन सारे प्रश्नों का अनेकान्त की दृष्टि से समाधान दिया—आत्मा है भी और नहीं भी है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार भी किया, अस्वीकार भी किया। बुद्ध के सामने भी ये प्रश्न आए। बुद्ध ने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कहा—इनके पचड़े में मत फंसो, इन दार्शनिक उलझनों में मत जाओ। तुम्हें करना क्या है? समाधि से जीना है, दु:ख से मुक्त होना है। तुम दु:ख से मुक्त होने की साधना करो। आत्मा है या नहीं? परलोक है या नहीं? इनमें तुम्हें क्या मिलेगा? बुद्ध ने इस भाषा में कहा—किसी व्यक्ति को तीर लगा। तीर को निकालना है, घाव भरना है, उसकी सार-संभाल और चिकित्सा करनी है। यह सब नहीं करेगा तो वह उलझन में फंस जाएगा। तीर किससे बना? तीर किसने बनाया? इनसे क्या मतलब है? जो करना है, वह तो कहीं रह जाएगा और व्यक्ति उलझंन में फंस जाएगा।

चार आर्यसत्य

बुद्ध ने कहा— तुम इन दार्शनिक उलझनों में मत फंसो। तुम इन चार आर्य सत्यों की साधना करो—

१. दु:ख
२. दु:ख समुदय
३. दु:ख का निरोध
४. दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपत्ति।

ये चार आर्यसत्य हैं—दु:ख है, दु:ख के हेतु हैं। दु:ख को समाप्त किया जा सकता है, दु:ख को समाप्त करने वाली प्रतिपत्ति है, निर्वाण है। इतना जानना बहुत है। इससे ज्यादा जानना आवश्यक नहीं है।

महावीर और बुद्ध का दृष्टिकोण

महावीर ने पंचास्तिकाय और नौ पदार्थ — दोनों का प्रतिपादन किया। बुद्ध का साधनामार्ग है—चार आर्यसत्य और महावीर का साधनामार्ग है — नौ पदार्थ। नौ पदार्थ मोक्ष का मार्ग है, दु:ख-मुक्ति का मार्ग है। इसके साथ-साथ महावीर ने पंचास्तिकाय का भी निरूपण किया। हमारे लिए जगत् को जानना भी जरूरी है। जगत् को जाने बिना केवल दु:ख-मुक्ति की बात करेंगे तो वह पूरी बात नहीं होगी। इसीलिए महावीर की दृष्टि को उभयस्पर्शी दृष्टि कहा गया। बुद्ध की दृष्टि को वर्तमानस्पर्शी दृष्टि कहा जा सकता है। बुद्ध का दृष्टिकोण रहा—वर्तमान दु:खों का प्रतिकार करना। जो समस्या सामने आए, उसका समाधान खोजना, दु:खमुक्ति का मार्ग खोजना और उसकी साधना करना। महावीर का मार्ग उभयस्पर्शी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मार्ग है, दुःखमुक्ति करना है तो भीतर भी जाना है, दुःख के मूल को भी जानना है। महावीर का प्रसिद्ध सूत्र है—अग्र को समाप्त करना है और मूल को भी समाप्त करना है। केवल पत्तों और फूलों को समाप्त करने से काम नहीं चलेगा। जब तक हम जड़ की बात को नहीं समझेंगे, मूल बात समझ में नहीं आएगी। पतझड़ आएगा तो पत्ते झड़ जाएंगे। फिर बसंत आयेगा तो पत्ते पुनः आ जाएंगे। पत्ते आने और झड़ने का क्रम चलता रहेगा। जब तक दुःख के मूल कारणों को नहीं मिटाएंगे, तब तक दुःखमुक्ति की बात प्राप्त नहीं होगी।

दुःखवादी धारा

भगवान् महावीर ने अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद—दोनों का प्रतिपादन किया। उन्होंने आत्मा को स्वीकार किया, आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में यह सबसे बड़ा अंतर है। जहां बुद्ध के दर्शन को अनात्मवाद, अनित्यवाद और दुःखात्मक—इस भाषा में निरूपित किया जा सकता है वहां महावीर के दर्शन को आत्मवाद, न्त्यिानित्यवाद और दुःखात्मक—इस भाषा में निरूपित किया जा सकता है। उस समय दो धाराएं प्रचलित थीं—दुःखवादी धारा और सुखवादी धारा। श्रमण परंपरा में दुःखवाद को सामने रखा गया। महावीर ने कहा—जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है। यह संसार दुःख-बहुल है।

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगाय मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, कीसंति जंतवो बहु।।

बुद्ध ने भी इन चारों दुःखों को स्वीकार किया। इस संदर्भ में बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों समान हैं।

दुःखमुक्ति का मार्ग

दुःख की समाप्ति के लिए जिस मार्ग को चुना, वह है संन्यास का मार्ग। उस समय यह एक बड़ा प्रश्न था—संन्यास को स्वीकार करना चाहिए या नहीं? वैदिक परंपरा में संन्यास का स्थान बहुत कम था। पहले तो था ही नहीं। तीन आश्रम ही मान्य थे, संन्यास आश्रम की मान्यता नहीं थी। संन्यास की मान्यता बहुत बाद में जुड़ी है और यह स्वीकार करने में भी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

कोई ऐतिहासिक कठिनाई नहीं लगती—वैदिक परंपरा में संन्यास का स्वीकार श्रमण परंपरा के प्रभाव से हुआ है। वैदिक परंपरा में गृहस्थ धर्म पर बहुत बल था। सारी स्मृतियों ने गृहस्थ धर्म का बहुत महत्त्व बतलाया। गृहस्थ में रहने को सबसे ज्यादा उत्तम कहा गया। यह प्रसिद्ध वाक्य रहा—गृहस्थाश्रम जैसा धर्म न हुआ है और न होगा। कहीं साधु बनने की बात आती तो कहा जाता — तुम क्या कर रहे हो? गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास आश्रम में भाग रहे हो? यह पलायनवाद है। आज संन्यास को पलायनवाद कहा जा रहा है, यह कोई नया तर्क नहीं है, बहुत पुराना तर्क है, हजारों वर्ष पुराना तर्क है। साधु बनना पलायन करना है। घर में रहते हुए साधना करना काफी है। उस समय जो कर्मकाण्ड चल रहे थे, यज्ञ आदि चल रहे थे, उसमें संन्यास की कोई जरूरत ही नहीं थी। यज्ञ आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना, इष्ट की साधना करना, यह गृहस्थ के लिए भी प्राप्त था। संन्यास की अलग से कोई आवश्यकता नहीं लगती थी। उस अवस्था में महावीर ने कर्मकाण्ड का विरोध किया, बुद्ध ने भी कर्मकाण्ड का विरोध किया।

एक भ्रांति

इस संदर्भ में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति पनपी। उस भ्रांति को जैन लोग भी यदा-कदा दोहरा देते हैं। वह भ्रान्ति यह है—कर्मकाण्ड, यज्ञ आदि का विरोध करने के लिए जैन धर्म का उद्भव हुआ। यह जो बात कही जाती है, वह सर्वथा गलत है। यदि इतनी छोटी बात के लिए जैन धर्म का उद्भव मानें तो जैन धर्म बहुत छोटा पड़ जाए। यह सचाई है—जैन धर्म ने कर्मकाण्डों का विरोध किया, यज्ञ का विरोध किया किन्तु इनका विरोध करने के लिए जैन धर्म बना, यह मानना भ्रान्तिपूर्ण और गलत है। महावीर ने जैन धर्म का जो विकास किया, वह अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्तवाद के दृष्टिकोण के विकास के लिए किया। एक परंपरा पहले से चली आ रही थी। महावीर ने उसमें अपनी ओर से बहुत सारी नई बातें जोड़ दीं। उन नई स्थापनाओं में विचार के पक्ष में अनेकान्त का दर्शन स्थापित किया। विचार के क्षेत्र में यह आज भी एक महत्त्वपूर्ण दर्शन बना हुआ है, जिसमें किसी बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और किसी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बात को सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ है दुनिया का प्रत्येक विचार सापेक्षदृष्टि से मान्य है और निरपेक्षदृष्टि से अमान्य है। सापेक्ष विचारों का समवाय दृष्टिकोण जो महावीर ने दिया, वह एक नई और मौलिक प्रस्थापना है। इस स्थापना ने दार्शनिक उलझनों को सुलझाने में बहुत बड़ा योगदान दिया है।

सापेक्ष है प्रत्येक विचार

आज भी हमारे लिए अनेकान्तदृष्टि उपलब्ध है। हम प्रत्येक दर्शन को पढ़ें, विज्ञान की शाखाओं को पढ़ें, सापेक्षदृष्टि से, नयदृष्टि से पढ़ें और यह मानें कि प्रत्येक सिद्धान्त और विचार सापेक्ष है, एक नय है।

डार्विन का जो विकासवाद का विचार है, वह एक नय है। फ्रायड़ का जो मनोविश्लेषणवाद है, वह भी एक नय है। मार्क्स का आर्थिकविश्लेषणवाद—साम्यवाद भी एक नय है। इन तीन व्यक्तियों ने वर्तमान की विचारधारा को बहुत प्रभावित किया है। मार्क्स, फ्रायड और डार्विन वर्तमान की वैचारिक एवं वैज्ञानिक पीढ़ी को प्रभावित करने वाले तीन महान् व्यक्तित्व हुए हैं। अनेकान्तदृष्टि से देखें तो इन तीनों के विचार तीन नय हैं। हम इन्हें अस्वीकार नहीं करेंगे, इनका सर्वथा खण्डन नहीं करेंगे किन्तु इनको एक नय मानेंगे, पूरी बात नहीं मानेंगे। जैन दर्शन का यह अभिमत रहा—किसी भी एक विचार को पूरा मत मानो, शत-प्रतिशत मत मानो। अमुक विचार ठीक है, यह कह सकते हैं पर यह मत कहो—यह विचार पूर्णतः ठीक है। हमारी पूरी बात मिलकर बनती है। दुनिया में पूरी कोई बात होती ही नहीं है। दुनिया का नियम ही है सापेक्षता। पूरा कुछ नहीं है दुनिया में। चाहे आत्मा हो, परमात्मा हो, निर्वाण हो या और कुछ। सबका अपना-अपना अवकाश, अपनी अपनी सीमा और अपनी अपनी मर्यादा है।

अनेकान्त का नियम

हाथ का एक भाग है अंगुली। अंगुली पूरा हाथ नहीं है। अंगूठा हाथ का एक अंग है पर वह हाथ नहीं है। यदि अंगूठा और अंगुली न हो तो हाथ का क्या उपयोग होगा? हमें किसी गिलास या पात्र को उठाना है। क्या अंगुली से वह पात्र उठ जाएगा? क्या अंगूठे से वह पात्र उठ पाएगा? जब अंगुली

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

और अंगूठा—दोनों मिलेंगे तब वह पात्र उठ पाएगा। हमें कुछ लिखना है। क्या हम केवल अंगुली से लिख पाएंगे? क्या हम केवल अंगूठे से लेखनी पकड़ पाएंगे? लेखनी को हम तब पकड़ पाएंगे जब अंगुली और अंगूठा — दोनों का योग होगा। अंगुली के प्रतिपक्ष में है अंगूठा। अनेकांत का नियम है—विरोधी को साथ में लिए बिना हम काम नहीं कर सकते। विरोधी को साथ में लेकर ही हम कोई काम कर पाएंगें। यदि अंगूठा अंगुली की दिशा में ही होता तो आदमी बंदर जैसा ही होता, कोई काम का नहीं होता। एक ओर चार अंगुलियां हैं और प्रतिपक्ष में अंगूठा है तो हमारा सारा विकास हो रहा है।

अविरोध है विरोध में

अनेकान्तवाद का ध्रुव सिद्धान्त है—पक्ष है तो प्रतिपक्ष का होना जरूरी है। अन्यथा हम काम नहीं कर पाएंगे। विरोधी होने का मतलब दुश्मन होना नहीं है। महावीर ने अनेकान्त के साथ-साथ अहिंसा का प्रतिपादन किया। यदि महावीर अनेकान्त का प्रतिपादन करते और अहिंसा का प्रतिपादन नहीं करते तो अनेकान्त भी भ्रान्त हो जाता। अनेकान्त का हार्द है—सब विरोधी धर्म हैं, विरोधी युगल हैं, कोई भी अविरोधी नहीं है, एक दूसरे का विरोधी मिलकर काम करता है। पोजिटिव और नेगेटिव चार्ज मिलता है तो प्रकाश होता है। बिना विरोधी मिले कुछ होता नहीं है, यह बात बिल्कुल विषम लगती है। हम प्रत्येक विरोधी पर संदेह करते हैं—यह भी मेरा विरोधी है, यह भी मेरा विरोधी है—इस चिन्तन से सबको विरोधी मान लेते हैं तो काम ही नहीं चल पाएगा। महावीर ने इस समस्या के संदर्भ बहुत सुन्दर मार्गदर्शन दिया। उन्होंने कहा—विरोध का अर्थ शत्रुता नहीं है। प्रत्येक विरोध के बीच में एक अविरोध छिपा हुआ है। केवल विरोध ही नहीं है। विरोध और अविरोध—दोनों के समन्वय का नाम है अनेकान्त।

साधना : मध्यम मार्ग

हमें यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि आचार के पक्ष में बुद्ध ने दोनों अतिवादों का विरोध किया। न कोरा ज्ञानवाद और न कोरा तपवाद। न केवल कष्ट सहना और न बहुत आराम या सुविधावाद को

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्वीकार करना। दोनों के बीच का मार्ग बताया—मध्यम मार्ग। किन्तु साथ-साथ यह कहने में भी संकोच नहीं होता—दर्शन के क्षेत्र में मध्यम प्रतिपदा की बात नहीं रही। वहां ऐकान्तिक अनित्यवाद को स्वीकार किया। बुद्ध ने आचार के क्षेत्र में बहुत काम किया किन्तु दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अवदान बहुत बड़ा नहीं माना जा सकता। बुद्ध के बाद उत्तरवर्ती आचार्यों ने दर्शन के क्षेत्र में बहुत बड़ा काम किया है। धर्मकीर्ति, नागार्जुन, वसुबंधु आदि बौद्ध धर्म के महान् आचार्यों ने दर्शन और तर्क के क्षेत्र में कुछ कीर्तिमान स्थापित किए हैं किन्तु बुद्ध के समय में दर्शन का बहुत विकास नहीं हुआ।

बुद्ध की देन

बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का बहुत विकास किया। आचार के क्षेत्र में चार आर्यसत्य, चार ब्रह्म विहार—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये वास्तव में बुद्ध की ही देन हैं। पंचशील का विकास बुद्ध ने किया है। जैन धर्म के पंचव्रत और बुद्ध के पंचशील—दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। जहां महावीर ने पांच व्रतों में अपरिग्रह को स्थान दिया वहां बुद्ध ने अपरिग्रह का स्पर्श ही नहीं किया। बुद्ध ने मद्यपान का निषेध किया। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य को व्रत के रूप में स्वीकार किया किन्तु अपरिग्रह को व्रत माना ही नहीं।

महावीर का अपरिग्रहवाद

हवाई विश्व विद्यालय में एक संगोष्ठी का आयोजन था। उसमें विश्व भर के सैंकड़ों बौद्ध भिक्षु एकत्रित थे। उस संगोष्ठी में आचार्यश्री के प्रतिनिधि भी विशेष रूप से आमंत्रित थे। संगोष्ठी के मध्य एक बौद्ध भिक्षु ने प्रश्न रखा—बुद्ध ने अपरिग्रह के विषय में क्या लिखा है? बौद्ध विद्वानों ने कहा—इस विषय में हमें कोई जानकारी नहीं है। एक बौद्ध भिक्षु बोले—सौभाग्य से हमारे बीच जैनों का एक प्रतिनिधि मंडल उपस्थित है। उनसे यह पूछा जाए—महावीर ने अपरिग्रह के बारे में क्या कहा है? तेरापंथ प्रवक्ता श्री मोतीलाल एच रांका ने दस मिनट तक अपरिग्रहवाद का विभिन्न पहलुओं से विश्लेषण प्रस्तुत किया। जैन धर्म में अपरिग्रहवाद की जो विशद विवेचना है, उसे सुन बौद्ध विद्वान् अत्यन्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रभावित हुए। जापान के समागत बौद्ध विद्वानों ने हमारे प्रतिनिधियों को जापान यात्रा का निमंत्रण दिया और इस विषय पर एक विस्तृत व्याख्यान देने का अनुरोध किया। केवल निमंत्रण ही नहीं दिया, प्रतिनिधि मंडल की यात्रा की सारी व्यवस्थाएं जुटा दीं।

आचार का क्षेत्र : नई दिशा का उद्घाटन

भगवान् महावीर ने अपरिग्रहवाद का सूत्र प्रस्तुत कर आचार के क्षेत्र में एक नई दिशा का उद्घाटन किया। वैचारिक इतिहास की दृष्टि से यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है—अपरिग्रह के बारे में जितना विश्लेषण जैन आगमों में मिलता है शायद भारतीय साहित्य में कहीं भी प्राप्त नहीं है। ऐसा लगता है—अहिंसा और अपरिग्रह—इन दोनों पर जैनों का एकछत्र साम्राज्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे धर्मों ने इन पर विचार नहीं किया। दूसरे धर्मों ने इन पर विचार किया है किन्तु बहुत विवाद नहीं है। महावीर ने जितने विस्तार से इस विषय का प्रतिपादन किया है जितनी गहराई में जाकर इस विषय को प्रस्तुत किया है, उस गहराई तक पहुंचने वाले व्यक्ति विरल हैं। यदि अपरिग्रहवाद का सम्यक् मूल्यांकन किया जाए तो वर्तमान की अनेक समस्याओं को समाधान मिल जाए। वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में महावीर के ये तीन सिद्धान्त—अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत बहुत प्रासंगिक बन गए हैं। इनकी प्रासंगिकता के साथ जैन धर्म भी प्रासंगिक बन जाता है।

काका कालेलकर की वेदना

आचार्यवर का हिसार में चातुर्मास था। अचानक एक दिन काका कालेलकर दिल्ली से हिसार आए। अचार्यवर ने कहा—काका साहब! इस गर्मी में आप अचानक कैसे आए? काका कालेलकर बोले—आचार्यजी! क्या करूं? मन में बड़ी पीड़ा है, वेदना है, मुझसे रहा नहीं गया, इसलिए मैं अपने मन की पीड़ा आपको सुनाने आया हूं। आचार्य श्री ने सोचा—काका साहब इतने प्रतिष्ठित आदमी हैं; भारत सरकार भी इनका सम्मान करती है। इनके मन में क्या पीड़ा हो सकती है? आचार्यश्री ने कहा—काका साहब! आपके मन में क्या पीड़ा है? काका कालेलकर बोले— आचार्यजी! आज जैनों को हो क्या गया है? जिस धर्म के पास अनेकान्त जैमा सिद्धान्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है और जिस सिद्धान्त की आज सारे संसार को जरूरत है, उस सिद्धान्त को मानने वाले सोए हुए हैं। वे धर्म, जिनमें कोई क्षमता नहीं है, अपने धर्म को विश्व-धर्म बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं और जिस धर्म में विश्व-धर्म बनने की क्षमता है, उस धर्म के लोग अकर्मण्य बने हुए हैं, कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। जिस धर्म के पास अपरिग्रह और अनेकान्त जैसे सिद्धान्त हैं, उस धर्म को फैलाने का कोई प्रयत्न नहीं है—इस बात से मुझे इतनी वेदना एवं पीड़ा हुई कि रहा नहीं गया और आपको अपनी यह व्यथा सुनाने आ गया।

युगीन परिप्रेक्ष्य में

वस्तुतः जैन धर्म ने ऐसे सिद्धान्त दिए हैं, जो आज के युग के लिए जरूरी हैं। इस परमाणु और वैज्ञानिक युग में, शस्त्रीकरण, हिंसा और आतंक के युग में, आर्थिक विषमता और वैचारिक खींचातानी के युग में, इन सिद्धान्तों का मूल्य बहुत बढ़ गया है। हम जैन धर्म को समझें, साथ-साथ बौद्ध धर्म को समझें। दोनों भाई-भाई हैं और एक ही परम्परा की दो धाराएं हैं। दोनों दर्शनों के अध्ययन के बाद कोई ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करें, जिसके द्वारा वर्तमान समस्याओं को समाधान की दिशा मिल सके। केवल तुलनात्मक अध्ययन ही न करें, अध्ययन के पश्चात् वर्तमान समस्याओं के समाधान में योग देने की स्थिति में आएं तो तुलनात्मक अध्ययन बहुत उपयोगी होगा, वर्तमान युग में एक नए सिद्धान्त और नई स्थापना का अवसर मिल सकेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म और वैदिक धर्म

पांच आदमी बैठे हैं। एक हिन्दू है, एक मुसलमान है, एक ईसाई है, एक सिख है और एक जैन है। कुछ बाहरी लक्षणों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है – अमुक व्यक्ति हिन्दू है, अमुक व्यक्ति मुसलमान, ईसाई या सिख है। किसी व्यक्ति के चोटी है तो वह हिन्दू है। किसी व्यक्ति के दाढ़ी है और मूंछ नहीं है तो वह मुसलमान है। ये सब बाहरी लक्षण हैं। इनमें फर्क हो सकता है किन्तु मनुष्य की मूल प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है।

भेद कहां है?

प्रत्येक व्यक्ति के दो आंखे हैं, दो कान हैं, दो पैर और दो हाथ हैं। सबके पास फेफड़ा और हृदय है। सब व्यक्तियों की शारीरिक संरचना एक जैसी है, चाहे वे किसी भी जाति या संप्रदाय से बंधे हुए क्यों न हों। यदि ऐसा होता – हिन्दू का हृदय अलग होता और मुसलमान का हृदय अलग तो भेद की बात समझ में आ जाती। ऐसा नहीं है कि हिन्दू का हृदय दाईं ओर है तो मुसलमान का हृदय बाईं ओर है। हिन्दू का लीवर बाईं ओर है तो मुसलमान का दाईं ओर। प्रकृति ने ऐसी कोई भेदरेखा नहीं खींची है। यदि ऐसी कोई भेदरेखा होती तो भेद की बात सहज ग्राह्य बन जाती। ऐसा लगता है – प्रकृति के जगत् में कोई भेद नहीं है। भेद पैदा किया है जाति और संप्रदाय में बंधी मानसिकता ने। कुछ विचारों ने भेदों की सृष्टि अवश्य की है और इसी कारण अनेक धर्म-सम्प्रदाय अस्तित्व में आए हैं।

धर्म की दो शाखाएं

भारतीय धर्म-दर्शन की दो शाखाएं हैं – जैन धर्म और वैदिक धर्म। इन दोनों को सामान्य दृष्टि से देखें तो कोई भेद पकड़ में नहीं आता। यदि दोनों की आचार-संहिता को देखें तो भेद की बात दिखाई नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

देगी। जैन धर्म कहता है – बुराइयों को छोड़ो, अच्छाइयों को स्वीकार करो। वैदिक धर्म भी यही कहता है। यदि कोई धर्म यह कहता–अच्छाइयों को छोड़ो, बुराइयों को अपनाओ तो भेद की बात समझ में आती। बौद्ध धर्म हो, ईसाई या इस्लाम धर्म हो – सब यही कहते हैं – अच्छे आदमी बनो, अच्छाइयों को आत्मसात् करो, सबके प्रति प्रेम करो, किसी को मत सताओ। जहां ये सब सामान्य स्वर मिलते हैं वहां सामान्य में खोए हुए असामान्य को खोजना बड़ा कठिन हो जाता है।

समान है आचार-संहिता

यह स्पष्ट है – जहां तक धर्म का प्रश्न है, आचार-संहिता का प्रश्न है वहां समान तत्त्व ज्यादा हैं। प्रायः सभी धर्मों ने अहिंसा की बात कही, सत्य पर बल दिया। मानवीय मूल्य, नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य– इन सबके विकास की बात प्रत्येक धर्म ने कही है। अन्तर हो सकता है मात्रा या सीमा का। किसी की सीमा छोटी है और किसी की व्यापक है। किसी धर्म ने कहा – बुराई मत करो। एक सीमा बन गई। किसी ने इस सीमा को विस्तार दे दिया – बुराई करो मत, कराओ मत और उसका अनुमोदन भी मत करो। मनुस्मृति ने सीमा को और विस्तार दे दिया – हिंसा करो मत, कराओ मत, उसका अनुमोदन भी मत करो। इतना ही नहीं, हिंसा से बनी हुई चीज को खाओ भी मत। हिंसा से बनी चीज खाना भी हिंसा है। यह सीमा का विस्तार है।

अपरिग्रह का संदर्भ

अपरिग्रह के संदर्भ में कहा गया – परिग्रह करो मत, परिग्रह रखो मत, रखाओ मत। उसका अनुमोदन भी मत करो। एक गृहस्थ के लिए कहा गया – ज्यादा संग्रह मत करो। प्रश्न हुआ – संग्रह कितना करें? भागवतकार ने लिखा – जितना एक दिन के लिए जरूरी है, उतना संग्रह करो। शायद यह बात किसी को अच्छी नहीं लगेगी। आदमी सोचता है – सात पीढ़ी तक काम आएं, इतना संग्रह कर लूं। यह सामान्य भारतीय व्यक्ति की चिन्ता होती है। इतना धन कमाऊं, जिससे सात पीढ़ी सुख से जी सके। एक ओर सात पीढ़ी की चिन्ता है, दूसरी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ओर भागवत का कथन है — जितने से पेट भरे, उतने पर तुम्हारा अधिकार है। इससे अधिक का जो संग्रह करता है, वह चोर है। उसे दण्ड देना चाहिए।

यावद् भ्रियेत जठरं, तावद् युक्तं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति।।

आधारभूत व्रत

परिग्रह के संदर्भ में यह एक सीमाकरण है। यदि यह सीमा की बात हो तो अमीर-गरीब की भेद-रेखा ही न रहे, समाजवाद-साम्यवाद की आवश्यकता ही न रहे। प्रत्येक धर्म ने अहिंसा के बारे में सोचा है, अपरिग्रह के बारे में सोचा है, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के बारे में सोचा है। भारतीय धर्मों की यह एक सामान्य आचार-संहिता बन गई। पांच व्रत या महाव्रत — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह— ये सामान्य व्रत रहे हैं। महात्मा गांधी ने ग्यारह व्रत बना दिए। किसी ने नौ व्रत का विधान किया। किन्तु ये पांच व्रत आधारभूत व्रत रहे हैं। इस सारे परिप्रेक्ष्य में भेद की बात अस्वाभाविक-सी लगती है। आरोपण जैसा लगता है भेद।

आरोपण भेद का

एक भारी भरकम और मोटा-ताजा आदमी हाथी पर चढ़कर जा रहा था। काफी लोग इकट्ठे हो गए। चारों तरफ हंसी के फव्वारे छूटने लगे। हाथी पर बैठा आदमी बोला — भाई ! क्या बात है? आप हंस क्यों रहे हैं? क्या आपने कभी हाथी को देखा नहीं? लोग बोले — हमने हाथी तो देखा है, पर हाथी पर चढ़ा हुआ हाथी कभी नहीं देखा।

भेद का आरोपण करना हाथी पर हाथी चढ़ाने जैसा है। धर्म एक हाथी है। भेद का आरोपण करना उस पर एक और हाथी चढ़ाना है।

धर्म अनेक क्यों?

हम आरोपण की भाषा में नहीं, यथार्थ की भाषा में सोचें। जहां मानवीय मूल्यों का प्रश्न है, वहां भेद को खोजना बहुत कठिन काम है। प्रश्न यह है — अगर भेद नहीं है तो जैन धर्म अलग क्यों है? वैदिक धर्म

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अलग क्यों है? बौद्ध धर्म अलग क्यों है? अमुक धर्म अमुक धर्म से अलग क्यों है? इस प्रश्न का समाधान अभेद की नहीं, भेद की मीमांसा से निकलता है। अभेद को समझना जितना आवश्यक है उतना ही भेद को समझना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से, सतही तौर पर सब धर्म एक जैसे दिखाई देते हैं। सूक्ष्म मनीषा के द्वारा, एक वैचारिक मनीषा के द्वारा ही भेद को पकड़ा जा सकता है।

प्रमाण शास्त्र है या पुरुष?

भेद की दिशा में जाएं तो सबसे पहले नाम पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। एक का नाम है वैदिक धर्म और एक का नाम है जैन धर्म। नाम में ही अंतर है। इसका तात्पर्य है – एक वह धर्म है, जो ग्रंथ को प्रमाण मानकर चलता है। एक वह धर्म है, जो पुरुष को प्रमाण मानकर चलता है। वेद ग्रंथों को प्रमाण मानकर चलने वाला धर्म है वैदिक धर्म। वहां कोई व्यक्ति प्रमाण नहीं हैं। वेद का कर्त्ता पुरुष नहीं है। इसका अर्थ है– वेद ईश्वर की वाणी है, ईश्वर का वचन है। वैदिक धर्म का अर्थ है– ईश्वरीय सत्ता या वेद को प्रमाण मानकर चलने वाला धर्म।

जैन धर्म 'जिन' को प्रमाण मानकर चलता है। 'जिन' कोई ईश्वरीय सत्ता नहीं है, कोई ग्रंथ नहीं है। जैन धर्म में ईश्वर का प्रामाण्य नहीं है, ग्रंथ का प्रामाण्य नहीं है। प्रामाण्य है पुरुष का। आप्त पुरुष जिन हैं। जो आप्त पुरुष है, वह प्रमाण है। जैन धर्म और वैदिक धर्म की मूल प्रकृति में पहला अन्तर है प्रमाण का। जैन धर्म के अनुसार प्रमाण शास्त्र नहीं है, प्रमाण है पुरुष। वैदिक धर्म के अनुसार पुरुष प्रमाण नहीं है, प्रमाण है वेद।

वीतराग कौन?

भेद का दूसरा बिन्दु है वीतरागता। जैन धर्म मनुष्य को वीतराग मानता है। वैदिक धर्म मनुष्य को वीतराग नहीं मानता। वैदिक धर्म का सबसे निकट का प्रतिनिधि ग्रंथ है मीमांसा। वास्तव में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड को लें तो वेदों के निकट संबंध वाला ग्रंथ है पूर्व मीमांसा। उपनिषद् का सारभूत दर्शन मानें तो उत्तर मीमांसा है वेद का प्रतिनिधि ग्रंथ। उसे धर्म कहने की अपेक्षा दर्शन कहना ज्यादा संगत है। न्याय

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एक दर्शन है, वैशेषिक एक दर्शन है। इन्हें धर्म कहने में कुछ सोचना पड़ता है। सांख्य दर्शन भी है और धर्म भी है। सांख्य का साधना पक्ष बड़ा प्रबल है पर उसे वैदिक मानना बहुत कठिन है। वह बिलकुल अवैदिक दर्शन है।

मीमांसा का अभिमत

वेद के दो मुख्य ग्रंथ हैं– पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। मीमांसा का अभिमत है– मनुष्य वीतराग नहीं हो सकता। जो शरीरधारी है, जिसमें वात, पित्त और कफ है, वह वीतराग कैसे बनेगा? वायु का दौर आएगा, व्यक्ति उछलने लग जाएगा, उसका सिर चकराने लगेगा। पित्त का प्रकोप होगा तो व्यक्ति गुस्से में बकने लग जाएगा। कफ प्रबल होगा तो लोभ और लालच तीव्र बन जाएगा। लोभ के कारण आदमी क्या-क्या अनर्थ नहीं करता। वात, पित्त और कफ का पुतला वीतराग नहीं हो सकता। यह मौलिक अन्तर है वीतरागता की स्वीकृति और अस्वीकृति का। वैदिक धर्म में वीतराग होता है ईश्वर और जैन धर्म में वीतराग होता है मनुष्य।

संदर्भ : सर्वज्ञता

भेद का तीसरा बिन्दु है सर्वज्ञता। जैन दर्शन कहता है– मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है। मीमांसा का मत है– मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता। ईश्वर या ब्रह्म सर्वज्ञ हो सकता है, मनुष्य नहीं। वीतरागता और सर्वज्ञता का बहुत निकट का संबंध है। जो वीतराग होगा, वह सर्वज्ञ हो जाएगा। सर्वज्ञ के लिए वीतराग होना अनिवार्य है। वीतराग हुए बिना कोई व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं बन सकता। आचार्य उमास्वाति ने लिखा– कैवल्य की उपलब्धि के लिए मोह का क्षय होना जरूरी है। ईश्वर सर्वज्ञ होता है, यह बात अनेक दर्शनों ने स्वीकार की है। जैन दर्शन का सिद्धान्त है– मनुष्य वीतराग भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी हो सकता है। शायद संपूर्ण भारतीय चिन्तन और दर्शन में इस स्थापना को स्वीकृत करने वाला अकेला दर्शन है – जैन दर्शन।

संदर्भ : आत्मवाद

भेद का चौथा बिन्दु है– ईश्वरवाद या आत्मवाद। वैदिक दर्शन

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रधानतः ब्रह्म या ईश्वरवादी दर्शन है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म की सत्ता को वास्तविक माना और संसार को माया माना। उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक — दो दृष्टियों से विचार किया। जैन दर्शन ने निश्चय और व्यवहार— इन दो नयों का अवलंबन लिया। शंकराचार्य ने बताया— मानवीय दृष्टि मे या व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो प्रकृति, जगत्, ईश्वर— ये सब सत्य हैं। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करें, ब्रह्म की दृष्टि से विचार करें तो ब्रह्म सत्य है, जगत्, प्रकृति— इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

सिद्धान्त का दुरुपयोग

यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध हैं— 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। इस सिद्धान्त का व्यवहार में लोगों ने दुरुपयोग भी किया है। एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से कुछ रुपये उधार लिए और इस लिखित अनुबंध के साथ लिए — दो माह बाद ब्याज सहित रुपए लौटा दूंगा। समय बीत जाने पर भी उसने रुपए नहीं लौटाए। रुपया न आने पर उस व्यक्ति ने ब्याज सहित रुपए मांगे। उसने कहा— मैंने तुम्हें जो रुपए दिए थे, उसे चुकाने की अवधि आ गई है।

कब दिया था?

तुम्हारे हाथ से लिखा हुआ साक्ष्य मौजूद है।

मैं नहीं दूंगा।

तुम सचाई को झुठला रहे हो।

तुम नहीं जानते— देने वाला झूठा है, लेने वाला भी झूठा है और लिखने वाला भी झूठा है। ब्रह्म सत्य है और सब झूठ है। तुम क्यों मांगने आए हो?

सिद्धान्त के दुरुपयोग का यह एक निदर्शन है।

परिपूर्णता का केन्द्र

एक दृष्टिकोण रहा— जितना पर्यायवाद है, वह मिथ्या है। वह शाश्वत नहीं है, स्थाई नहीं है। केवल ब्रह्म सत्य है, इसका अर्थ है— परा और अपरा — दोनों विद्याओं की स्वीकृति। अपराविद्या है तो साथ में परा विद्या भी है। एक आदमी परा विद्या की साधना करेगा, धर्म का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचरण करेगा पर उसका केन्द्र आत्मा नहीं रहेगी। उसका केन्द्र होगा ब्रह्म या ईश्वर। आध्यात्मिक परिपूर्णता का जो केन्द्र है, वह आत्मा नहीं है, कोई दूसरा है– ब्रह्म या ईश्वर है।

मुक्त आत्मा : विलय या स्वतंत्र अस्तित्व

अध्यात्म की परिपूर्णता का केन्द्र कोई दूसरा नहीं है, अपनी आत्मा है। यह तथ्य जैन दर्शन ने स्वीकार किया, दूसरे दर्शनों ने नहीं। यह एक नई स्थापना है। मोक्ष होने के बाद भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व रहता है। सारे दर्शन मोक्ष होने के बाद आत्मा को विलीन कर देते हैं। जैसे सब नदियां बहती हैं और अंत में समुद्र में मिल जाती हैं वैसे ही मुक्त होने के बाद आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। जैन दर्शन का मोक्ष का सिद्धान्त पूर्ण स्वतंत्रता का सिद्धान्त है– मुक्त होने के बाद, सब कर्मों का विलय कर देने के बाद भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। आत्मा के विलीन होने के संदर्भ में यह तर्क भी दिया जाता है– हिन्दुस्तान आजाद बना तब पचासों राजा थे। बीकानेर, जोधपुर, हैदराबाद आदि नगरों के अलग-अलग राजा थे। स्वतंत्र भारत में उन सबका विलय हो गया। आज कोई राजा नहीं रहा, सब विलीन हो गए। वैसे ही मुक्त होने के बाद सारी आत्माएं परमात्मा में विलीन हो जाती हैं।

चार पहलू

जैन दर्शन विलय की बात को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, सबका अपना अस्तित्व होता है, मुक्त होने के बाद भी प्रत्येक आत्मा अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखती है। वह किसी का अंश नहीं है। वैदिक धर्म के अनुसार वह एक अंश है और सब उसके अंशभूत हैं। जैन दर्शन कहता है– कोई किसी का अंशी नहीं है और कोई किसी का अंश नहीं है किन्तु सब स्वतंत्र हैं, प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। यह है स्वतंत्रता का सिद्धान्त।

पुरुष का प्रामाण्य, वीतरागता, सर्वज्ञता और आत्मा की मोक्ष अवस्था में स्वतंत्रता– ये चार ऐसे पहलू हैं, जो जैन दर्शन और वैदिक दर्शन की भिन्नता को स्पष्ट करते हैं। यदि हम मूल स्थापनाओं, सैद्धान्तिक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

स्थापनाओं के भेद को छोड़कर केवल सतही आधार पर भेद की विवक्षा करें तो शायद दोनों दर्शनों के साथ न्याय नहीं होगा।

जैन दर्शन का आशावाद

जैन दर्शन की ये जो चार स्थापनाएं हैं, उनका प्रतिफलन है आशावाद। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर यह आशावाद जागता है–

मैं प्रमाण बन सकता हूं। मैं स्वयं प्रमाण हूं। मुझे किसी दूसरे के प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

मैं वीतराग बन सकता हूं। वीतरागता की उपलब्धि मेरे हाथ में है।

मैं सर्वज्ञ बन सकता हूं। विश्व की प्रत्येक हलचल को मैं साक्षात् जान सकता हूं, देख सकता हूं।

मैं मुक्त होने के बाद अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रख सकता हूं।

ये चार ऐसे आशावादी दृष्टिकोण जैन दर्शन ने दिए हैं, जिनके आधार पर प्रत्येक व्यक्ति के मन में पुरुषार्थ और पराक्रम की भावना जागती है। व्यक्ति के सामने यह लक्ष्य बिन्दु बना रहता है– मुझे यह होना है, वीतराग, केवली या सर्वज्ञ बनना है। यह लक्ष्य-केन्द्रित आशा उसे सतत पुरुषार्थ की प्रेरणा देती है। इस महान् पुरुषार्थवादी और आशावादी दृष्टिकोण के साथ हम दोनों धर्मों की तुलना करें, दोनों के समान स्तर और मौलिक स्थापनाओं के अंतर को समझने का प्रयत्न करें तो हम दोनों महान् धर्मों के साथ न्याय कर पाएंगे।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म और इस्लाम धर्म

हमारी दुनियां में कुछ धर्म बहुत बड़े माने जाते हैं। ईसाई, इस्लाम और बौद्ध धर्म – ये तीनों संख्या की दृष्टि से विशाल हैं, पूरी दुनियां में फैले हुए हैं। एक बड़ा होता है गुणात्मक दृष्टि से और एक बड़ा होता है संख्या की दृष्टि से। संख्या की दृष्टि से बड़े और छोटे का निर्णय करना संभव है लेकिन गुणात्मकता की दृष्टि से कौन बड़ा है और कौन छोटा, इसका निर्णय करने के लिए बहुत गंभीर अध्ययन अपेक्षित होता है। संख्या में आंकड़ें बोलते हैं, भीतर की बात नहीं बोलती।

इस्लाम धर्म संख्या की दृष्टि से काफी बड़ा है, बहुत फैला हुआ है और फैलता ही जा रहा है। जैन धर्म वर्तमान में संख्या की दृष्टि से काफी छोटा है। जैन धर्म कभी बहुत व्यापक था लेकिन वह आज बहुत सीमित दायरे में बंधा हुआ है।

धर्म के दो पहलू

धर्म के दो पहलू हैं – आध्यात्मिक धर्म और धर्म का शासन – संगठन या समाज। हम दोनों दृष्टियों से देखें। यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि इस्लाम धर्म ने दोनों दृष्टियों से समृद्धि जोड़ी है। जैन धर्म आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत समृद्ध है। उसका जो व्यवहार पक्ष है, संगठन या समाज का पक्ष है, वह बहुत कमजोर रहा है। जिस किसी व्यक्ति ने इस्लाम धर्म को स्वीकारा, मुसलमान बना, वह भाईचारे की श्रृंखला से जुड़ गया। जैन धर्म में यह तत्त्व तो रहा पर इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

चैत्यवंदना में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया गया है–

तम्हा सव्वपयत्तेण जो नमुक्कारधारओ।
सावगो सो वि दट्ठव्वो जहा परमबंधवो।।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जिसने नमस्कार महामंत्र को धारण कर लिया, वह श्रावक बन गया। वह तुम्हारा परम बांधव है।

सामाजिकता : भाईचारे का सिद्धान्त

यह भाईचारे का सिद्धान्त था पर जैन लोग इसे अपना नहीं पाए। आज कोई हरिजन नमस्कार मंत्र को धारण करता है तो उसे भाई नहीं माना जाता। आज कोई दूसरी जाति का व्यक्ति जैन बनता है तो उसे भाई नहीं माना जाता। दादा जिनचंद्र सूरी ने जिस परमबंधुता वाली बात पर बल दिया, उसे समाज में मान्यता नहीं मिली। यदि वह बात मान्य होती तो आज जैन धर्म सामाजिक दृष्टि से, संगठन की दृष्टि से और दर्शनाचार की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली होता। दर्शनाचार को जो महत्त्व मिलना चाहिए था, वह नहीं मिल पाया। इसका परिणाम है — जैन धर्म संख्या की दृष्टि से आज भी शक्तिशाली नहीं है। कोरा आध्यात्मिक धर्म उन लोगों के लिए उपयोगी होता है जो तत्व की गहरी पैठ रखते हैं, तत्त्व की गहराई में जाना चाहते हैं। जहां सामाजिक जीवन में भाईचारे की भावना नहीं होती, साधर्मिकता नहीं होती, यह सात्विक गर्व नहीं होता कि यह मेरा साधर्मिक भाई है, हम एक ही धर्म को मानने वाले और एक ही मंत्र का जप करने वाले हैं, वहां समाज शक्तिशाली नहीं बनता। जहां साधर्मिकता की अनुभूति, भाईचारे की अनुभूति नहीं होती वहां सामाजिकता का विकास नहीं होता

सामाजिकता की समस्या

इस्लाम धर्म सामाजिकता की दृष्टि से बहुत शक्तिशाली रहा है और इसका कारण यह भावना है — जो मुसलमान बन गया, वह अपना हो गया। सांभर की झील में जो भी पड़ा, वह नमक बन गया। यह जो अपनाने की वृत्ति है, व्यवहार या सामाजिकता की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। राजपूत, जाट आदि जातियों के कितने लोग जैन धर्म के निकट आए पर उन्हें ऐसा कोई शक्तिशाली नेता नहीं मिला, जो उनको अपनाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ा सके। लोगों को ऐसा प्रतीत होता है — हम जैन धर्म को तात्विक दृष्टि से बहुत अच्छा मानते हैं, उसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा भी है लेकिन जो पहले से जैन बने हुए हैं, वे हमें

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अपनाने के लिए तैयार नहीं हैं। यह सामाजिकता की समस्या जटिल स्थिति पैदा कर देती है। आचार्य श्री तुलसी ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया, यदि उसे समाज मूल्य देता तो जैन धर्म सामाजिकता की दृष्टि से कमजोर नहीं रहता।

संकीर्णता मिटे

लाडनूं का प्रसंग है। आचार्य श्री ने हरिजनों को प्रवचन सुनने का आह्वान किया। अनेक हरिजन प्रवचन सुनने के लिए लालायित बने। समाज के कुछ प्रमुख लोगों को इस बात का पता चला। उन्होंने कहा — यह नहीं हो सकता कि हरिजन आए और हमारे साथ बैठे। हम देखते हैं— वे कैसे आएंगे पंडाल में। हम दरवाजे में खड़े रहेंगे, कोई भीतर नहीं आ सकेगा। ये सारी बातें आचार्यश्री के पास पहुंची। आचार्यवर ने कहा— यह हमारा निर्णय है — हरिजन पंडाल में आ सकते हैं, प्रवचन सुन सकते हैं। उन्हें प्रवचन सुनने से रोकने का अर्थ है — हमें यहां रहने से रोकना। आचार्यवर के इस कथन से लोगों का आवेश मंद पड़ा। हरिजन आए, महाजनों के साथ बैठकर प्रवचन सुना।

हमारा समाज इससे भी कुछ आगे बढ़ा। श्रीडूंगरगढ़ में विशाल हरिजन सम्मेलन आयोजित किया गया। उसमें लगभग चार हजार हरिजनों ने भाग लिया। सम्मेलन में भाग लेने वाले हरिजनों को भोजन कराया गया। भोजन करने वाले थे हरिजन और भोजन परोसने वाले थे जैन समाज के संपन्न और समाजसेवी लोग। वह एक अनोखा दृश्य था। यदि वह क्रम स्थाई बनता, हरिजनों को अपनाने की मानसिकता का निर्माण होता तो जैन धर्म का महान् तत्त्व दूसरों के लिए सहज ग्राह्य बनता, भाईचारे की भावना व्यापक बन जाती।

समस्या यह है — आज भी यह संकीर्णता मिटी नहीं है। समाज में वह समर्थ नेतृत्व नहीं है, जो इस बात को आगे बढ़ा सके। यही कारण है — गुणात्मकता की दृष्टि से महान् होते हुए भी जैन धर्म संख्या की दृष्टि से बहुत समृद्ध नहीं बन पा रहा है।

जरूरी है सौहार्द का विकास

हम इस्लाम का समाज-दर्शन देखें। वह बहुत ग्राह्य है। उसमें

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पारस्परिकता और सौहार्द को जो मूल्य दिया गया है, उससे प्रत्येक आदमी का मन आकृष्ट हो जाता है। सामान्य आदमी तत्व की गहराई में नहीं जाता। वह प्रभावित होता है पारस्परिकता से। समाज में पारस्परिकता है, सौहार्द का संबंध है तो व्यक्ति सहज ही उस ओर खिचता चला जाएगा। हम एक गृहस्थ की बात छोड़ दें। एक मुनि को भी सौहार्द नहीं मिलता, वात्सल्य नहीं मिलता, पारस्परिकता नहीं मिलती है तो वह भी सोचता है — मैं कहां फंस गया। मेघकुमार के साथ ऐसा ही हुआ था। सम्राट् श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार महावीर के चरणों में प्रव्रजित हुआ। मुनि जीवन की पहली रात। सोने का स्थान मिला दरवाजे के पास। मध्यरात्रि का समय, कोई मुनि स्वाध्याय के लिए बाहर जा रहा है, कोई ध्यान के लिए बाहर जा रहा है, कोई देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए बाहर जा रहा है। किसी का पैर मेघकुमार से टकरा जाता है, किसी के पैर के प्रहार से मेघकुमार तड़प उठता है। इस स्थिति में नींद का प्रश्न ही नहीं था। उसके लिए वह रात बहुत लम्बी बन गई। तीन प्रहर का समय उसे सौ प्रहर जितना लगने लगा।

त्रियामा शतयामाऽभूत् नानासंकल्पशालिनः।
निस्पृहत्वं मुनीनां तं, प्रतिपलमपीडयत्।।

समाज : परस्परता का संबंध

मेघकुमार ने सोचा — यह कैसा समाज? पहले जब मैं गृहस्थ था तब साधु कितना प्यार करते थे। आज कोई पूछता ही नहीं है। जो आता है, ठोकर लगाकर चला जाता है। यह कैसा व्यवहार है? उसका मन विचलित हो गया। विचलित होने का कारण कोई आत्मा की दुर्बलता नहीं थी। संतों का रूखा-सूखा व्यवहार उसके स्नेहिल हृदय को विक्षुब्ध बना गया। सूर्योदय होते ही मेघकुमार महावीर के पास पहुंचा। महावीर को वंदना कर बोला — भगवन्! यह संभालो आपका दिया हुआ साधुत्व।

समाज में पारस्परिक संबंध का कितना महत्व होता है, संगठन में जुड़ाव का होना कितना महत्वपूर्ण है, हम इस सचाई को समझें। ये तत्त्व समाज या संगठन में नहीं होते हैं तो वह संख्या की दृष्टि से विस्तार

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

नहीं पा सकता। धर्म का जो यह व्यावहारिक पहलू है, वह संगठन या समाज का प्राणतत्त्व होता है। इसकी उपयोगिता का बोध होना वर्तमान युग में अत्यन्त अपेक्षित है।

जैन धर्म : परम तत्त्व

धर्म का मुख्य पहलू आध्यात्मिकता है। जैन धर्म आत्मा के लिए समर्पित धर्म है। जब तक आत्मा या परमात्मा के प्रति गहरा अनुराग नहीं जगता तब तक काम बनता नहीं है। हमारे सामने एक लक्ष्य है, एक गंतव्य है और वह है आत्मा। उसके प्रति गहरा लगाव जागे बिना आदमी कहीं टिक ही नहीं पाता। जैन धर्म में आत्मा या आत्मा की शुद्धावस्था—परमात्मा को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया गया है। उसके प्रति – अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते – अस्थि, मज्जा और रग-रग में अनुरक्ति की बात कही गई है। आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पण। जो धार्मिक बना है, उसके लिए केवल आत्मा-परमात्मा के प्रति समर्पण ही श्रेय है। उसका परम आराध्य तत्त्व है आत्मा।

इस्लाम धर्म : परम तत्त्व

इस्लाम का परम तत्त्व है – अल्लाह, खुदा, ईश्वर या परमेश्वर। ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण। ईश्वर के लिए, ईश्वर के नाम पर इतना समर्पण, जिसकी कोई सीमा नहीं है। ईश्वर के प्रति कुरान शरीफ में जो आयते हैं, उन्हें पढ़ें तो ऐसा लगेगा – इस्लाम धर्म का आदि बिन्दु या अंतिम बिन्दु कोई है तो वह है खुदा-अल्लाह। अल्लाह के सिवा कोई नहीं। सब कुछ समर्पित है उसके लिए। खुदा को सर्वज्ञ माना गया है। कहा गया – वह सब जानता है, देखता है, न्याय करता है। कुरान कहता है – बीच के कोई भी देवता तुम्हारा भला नहीं कर सकते। तुम किसी देवता की शरण में मत जाओ। बहुत मार्मिक भाषा में कहा गया— तुम उन देवताओं की शरण में जाते हो, जो एक मक्खी को भी नहीं बना सकते। क्या कोई ऐसा देवता है, जो एक मक्खी का भी निर्माण कर दे? तुम उस परमात्मा की शरण लो, ईश्वर की शरण लो, जो सब कुछ करने में समर्थ है।

इस्लाम धर्म का सूत्र है – ईश्वर के प्रति निष्ठा। इस्लाम धर्म का

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अर्थ है — ईश्वर के प्रति समर्पण। हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें। जैन धर्म है आत्मा या परमात्मा के प्रति समर्पित और इस्लाम धर्म है खुदा या अल्लाह के प्रति समर्पित। अंतर इतना है — जैन धर्म ईश्वर कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करता और न ही न्याय-अन्याय की बात ईश्वर के साथ जोड़ता है। जहां सर्वज्ञता का प्रश्न है वहां जैन धर्म भी परमात्मा को सर्वज्ञ मानता है और इस्लाम में भी ईश्वर को सर्वज्ञ माना गया है।

धर्मान्तरण का प्रश्न

एक प्रश्न है धर्मान्तरण का। इस्लाम को विस्तारवादी माना जाता है। यह कहा जाता है — इस्लाम के लोगों ने जबरदस्ती अपने धर्म में दूसरे लोगों को दीक्षित किया। यह बात उत्तरकालीन हो सकती है। कुरान में इसका निषेध है। यह बात कुरान सम्म्मत नहीं है। कुरान कहता है — तुम लोगों में धर्म की सहिष्णुता होनी चाहिए। धर्म के विषय में जोर-जबर्दस्ती का कोई स्थान नहीं है। यह है इस्लाम का सिद्धान्त। जैन धर्म का भी यही सिद्धान्त है। जैन धर्म ने हृदय परिवर्तन को महत्त्व दिया— दूसरों के हृदय को बदलो, दिल को बदलो, मस्तिष्क को बदलो। समझा-बुझाकर धार्मिक बनाओ। जबर्दस्ती किसी से धर्म नहीं कराया जा सकता। यही सिद्धान्त इस्लाम का है — धर्म के मार्ग में जोर-जबर्दस्ती का कोई अवकाश नहीं है।

कुरान का कथन

आचार या चरित्र की दृष्टि से देखें तो ऐसा लगता है — सचाई दो होती ही नहीं है। साधना के मार्ग पर चलने वाले व्यक्तियों का अनुभव दो नहीं होता। जिस व्यक्ति ने मन को एकाग्र किया है, मन को साधा है, कषाय को जीता है, समता का जीवन जिया है, वह किसी भी देश में, किसी भी काल में हो, सत्य तक पहुंच जाता है। कुरान का एक वाक्य है— 'हे श्रद्धावानो ! ऐसी बात क्यों कहते हो, जो करते नहीं, ईश्वर के निकट यह बात बहुत निन्द्य है कि वह बात कहो, जो करो नहीं।' कुरान का यह वाक्य कितना मूल्यवान है — तुम कहो कुछ और करो कुछ, इससे ईश्वर प्रसन्न नहीं होना। कथनी और करनी की समानता पर बल देने वाला यह महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यथाख्यात चारित्र : अविसंवादन योग

जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है – यथाख्यात चारित्र। हमारे आचरण का चरम बिन्दु है – यथाख्यात चारित्र – अविसंवादन योग। सत्य क्या है? हम सत्य को बहुत स्थूल रूप में स्वीकार कर लेते हैं – वाणी से झूठ मत बोलो। यह सत्य की स्थूल व्याख्या है। सत्य केवल वाणी के साथ ही नहीं जुड़ता। यह सत्य का एक पहलू है, उसकी समग्र परिभाषा नहीं है। केवल वाणी का असत्य ही असत्य नहीं होता। काया का भी असत्य होता है, भाव का भी असत्य होता है। एक असत्य है विसंवादन योग – कहना कुछ और करना कुछ। यह शायद सबसे बड़ा झूठ है, दुनियां को धोखा देना है। व्यक्ति बहुत बड़ी-बड़ी बातें बनाता है लेकिन चलता है बिलकुल दूसरी दिशा में। यह बहुत बड़ा धोखा है। जैन धर्म ने आचरण के साथ इस बात को जोड़ा – कथनी और करनी में संवादिता होनी चाहिए। संवादिता का अंतिम बिन्दु है यथाख्यात चारित्र। जिस बिन्दु पर पहुंचकर कथनी और करनी की सारी दूरियां समाप्त हो जाती हैं, उस बिन्दु की उपलब्धि का नाम है यथाख्यात चारित्र। इस संदर्भ में इस्लाम धर्म और जैन धर्म का सिद्धान्त बहुत निकट आ जाता है।

स्वतंत्रता का प्रश्न

अली ने मोहम्मद साहब ने पूछा – हम स्वतंत्र हैं या परतंत्र? मोहम्मद साहब ने कहा – खड़े हो जाओ। अली महाशय खड़े हो गए। मोहम्मद साहब बोले – एक पैर को सीधा कर दो। अली ने वैसा ही किया। मोहम्मद साहब का दूसरा निर्देश था – अब दूसरे पैर को भी सीधा कर दो। अली ने कहा – मैं दूसरा पैर सीधा कैसे कर सकता हूं? मैं गिर जाऊंगा। मोहम्मद साहब बोले – तुम एक पैर को सीधा करने में स्वतंत्र हो और दूसरे पैर को सीधा करने में परतंत्र हो। इसका अर्थ है– तुम स्वतंत्र भी हो, परतंत्र भी हो।

जैन आचार्य के सामने प्रश्न आया – हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं या परतंत्र? आचार्य ने कहा – एक आदमी खजूर के पेड़ के सामने खड़ा है। उसके मन में इच्छा जागी, इस पेड़ पर चढ़ जाऊं। वह उस पेड़ पर चढ़

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

गया। वह चढ़ने में स्वतंत्र है। चढ़े या न चढ़े, यह उसकी स्वतंत्रता है किन्तु चढ़ने के बाद नीचे उतरना उसकी परतंत्रता है।

स्वतंत्रता और परतंत्रता सापेक्ष है। एक व्यक्ति खाने में स्वतंत्र है। ज्यादा खाएगा तो अफारा आ जायेगा। उस परिणाम को भोगने में वह परतंत्र है। पेट खराब है, पाचनशक्ति अच्छी नहीं है और व्यक्ति ने भारी चीज खा ली। वह उसे खाने में स्वतंत्र है किन्तु उसका परिणाम भोगने में परतंत्र है। आदमी एकांततः न स्वतंत्र है और न परतंत्र।

वर्तमान आचार का प्रश्न

कुरान को पढ़ते समय ऐसा नहीं लगता – आज जैसा चल रहा है, इस्लाम धर्म वैसा ही है। कुरान में बहुत अच्छी बातें हैं – नीति और आचार का उपदेश है, न्याय और हृदय परिवर्तन का संदेश है– 'किसी के साथ अन्याय मत करो। किसी के साथ जुल्म मत करो। किसी को सताओ मत। सबके साथ मैत्री करो। प्रेम करो। तुम्हें ईश्वर के पास जाना है, वहां न्याय होगा। शरीर पर ममत्व मत करो। यह शरीर छूट जाएगा, नष्ट हो जाएगा। तुम नष्ट नहीं होने वाले हो।' इन सब बातों को सामने रखकर देखें तो ऐसा लगता है – वेदान्त, जैन दर्शन, बौद्ध, कुरान, सांख्य आदि आदि में बहुत निकटता है। इसी आधार पर पश्चिम के लोगों ने कुरान और वेदान्त का तुलनात्मक अध्ययन किया है। कुरान और गीता में बहुत समता है इसलिए दादा पेशवा ने गीता का फारसी में अनुवाद कराया। जहां वैदिक दर्शन में स्वप्न, प्रसुप्ति आदि चार अवस्थाएं मानी गई हैं वहां इस्लाम में भी चार अवस्थाएं मानी गई हैं। सांख्य दर्शन का साधना पक्ष है पातंजल योगदर्शन, इस्लाम का साधना दर्शन है सूफी दर्शन। सूफी संतों ने अध्यात्म की दिशा में काफी विकास किया और वह विश्व में काफी प्रभावशाली बना। मूल बात यही है – वर्तमान आचार और कुरान की बातों में काफी अन्तर है। यह मान लेना चाहिए – जैन धर्म के सिद्धान्त और जैन श्रावक के आचार में काफी निकटता है। कहा गया – एक जैन श्रावक के लिए झूठा तोल-माप सर्वथा निषिद्ध है। वह मिलावट नहीं कर सकता। जो झूठा तोल-माप करता है, मिलावट करता है, वह पशु-योनि में जाता है। यह जैन श्रावक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की सामान्य आचार-संहिता है और इसका पालन एक जैन श्रावक को करना होता है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ

जहां मूल सिद्धान्त का प्रश्न है वहां उत्तराध्ययन और कुरान को आमने-सामने रखकर देखेंगे तो ऐसा लगेगा — अनुभव दो नहीं होता, अच्छाई दो नहीं होती। अन्तर हो सकता है सूक्ष्मता तक जाने में, गहराई तक पहुंचने में। जहां आचार और व्यवहार के स्थूल सिद्धान्त का प्रश्न है वहां अनेक धर्मों में समानता के व्यापक तत्त्व खोजे जा सकते हैं। हमें इस संदर्भ में प्रयत्न भी करना चाहिए। जैन दर्शन का बड़ा उदार दृष्टिकोण रहा है। जैनधर्म में बहुश्रुत वह होता है, जो अपने सिद्धान्तों को भी जानता है दूसरों के सिद्धान्तों को भी जानता है। आचार्य की यह एक विशेषता है कि वह स्वसमय और परसमय — दोनों का ज्ञाता होता है। दूसरे धर्मों को जानने का एक लाभ यह होता है कि दृष्टि की संकीर्णता मिट जाती है। अन्यथा आदमी कूपमण्डूक बना रहता है। वह सोचता है — सारी अच्छाइयां यहीं हैं। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है — अच्छाइयों का क्षेत्र व्यापक है। सत्य विराट् है। वह सब जगह प्राप्त होता है।

सत्य की समझ : प्रशस्त पथ

हम दूसरे धर्मों को जानें लेकिन केवल ऊपरी तौर पर नहीं। सब धर्मों के बारे में मौलिक जानकारी करनी चाहिए। मूल सिद्धान्त क्या है और उसकी तुलना कैसे हो सकती है? इसका माध्यम बन सकता है नयवाद। नयवाद इतना व्यापक है कि उसमें आग्रह का अवकाश ही नहीं है। हमारी दृष्टि में प्रत्येक धर्म एक नय है। उस नय को समझें। एक व्यापक दृष्टिकोण समझ में आएगा, सचाई के निकट पहुंचने में हमें बहुत सुविधा होगी। तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है — सत्य के अनेक मार्गों का व्यापक अवबोध। यह अवबोध सत्य की सही समझ का प्रशस्त पथ है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म और ईसाई धर्म

दुनिया में जितने विचार हैं, वे सब सापेक्ष हैं। किसी भी विचार को असत्य कहने से पहले पांच बार नहीं, पचास बार सोचना चाहिए। हम जिसे असत्य मान रहे हैं या कह रहे हैं क्या वह सत्य नहीं है? वह सत्य भी हो सकता है। वह विचार भी एक नय है, एक दृष्टिकोण है और एक सचाई है। हम निरपेक्ष भाव से उसका तिरस्कार करें, खण्डन करें तो शायद सत्य के प्रति न्याय नहीं होगा

अवाच्य है अखण्ड सत्य

सत्य की मर्यादा है—सब दृष्टिकोणों का समुच्चय करें, समाहार और समन्वय करें फिर अखण्ड सत्य की बात करें। हमारी वाणी में शक्ति नहीं है कि वह अखण्ड़ सत्य का प्रतिपादन कर सके। आज तक कोई भी पुरुष ऐसा पैदा नहीं हुआ, जिसने अखण्ड सत्य का प्रतिपादन किया हो। चाहे वह बड़े से बड़ा अवतार हो, ईसा, बुद्ध, महावीर, मौहम्मद साहब, राम या कृष्ण हो। कोई भी अखण्ड सत्य को नहीं बता सका। हमारे पास वाणी की शक्ति सीमित है और उनके पास भी वाणी की शक्ति सीमित थी। ज्ञान असीम हो सकता है पर वाणी किसी की असीम नहीं हो सकती। प्रतिपादन की क्षमता भी असीम नहीं है, जीवन भी किसी का असीम नहीं है। अनंत सत्य को एक छोटे से जीवन में कैसे बताया जा सकता है? एक व्यक्ति चाहे पचास वर्ष का है या सौ वर्ष का अथवा इससे भी अधिक। इतनी सीमित आयु में वह अनंत सत्य को कैसे बता सकता है? एक व्यक्ति प्रतिदिन चौबीस घंटा बोले और सैकड़ों वर्षों तक लगातार बोलता चला जाए तो भी वह सत्य का एक बिन्दु जितना हिस्सा ही अभिव्यक्त कर पाएगा। कहना चाहिए—वर्णमाला के एक अक्षर 'अ' का प्रतिपादन भी सैंकड़ों वर्षों में नहीं किया जा सकता। एक अ के अनंत पर्याय हैं। केवल एक अकार का प्रतिपादन भी सैकड़ों वर्षों में संभव नहीं है तो अनंत सत्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

का प्रतिपादन किसी के लिए भी कैसे संभव है?

नय दृष्टि

यह तथ्य है—आज तक किसी ने सत्य का पूरा प्रतिपादन किया नहीं है और भविष्य में भी सत्य का पूरा प्रतिपादन नहीं किया जा सकेगा। इस स्थिति में हम एक बात पकड़ कर अकड़ जाएं, खींचातानी करें, यह कैसी समझदारी होगी? भगवान् महावीर ने इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया है—तुम प्रत्येक विचार पर चिन्तन करो और सोचो—यह किस नय की अपेक्षा से सही है। यह मत सोचो कि यह गलत है। गलत कहने से पहले इस बात पर विचार करो—यह किस नय की अपेक्षा से सही हो सकता है। जैन आचार्यों ने इस दृष्टिकोण से अनेक दर्शनों पर विचार किया है। उनके सामने ईसा का दर्शन नहीं रहा, इस्लाम का दर्शन नहीं रहा किन्तु उनके सामने जितने दर्शन थे, उन सब पर उन्होंने नय-दृष्टि से विचार किया। प्रत्येक दर्शन को अपना एक नय माना। सात नय हैं, सात सौ नय भी हो सकते हैं, सात हजार नय भी हो सकते हैं। कोई भी धर्म बाकी नहीं बचेगा। उन सबको मिलाएं तो अखण्ड सत्य सामने आएगा।

लक्ष्य है अखण्ड को जानना

हम खण्ड को जानते हैं किन्तु हमारा लक्ष्य होना चाहिए अखण्ड को जानना। जो व्यक्ति खण्ड में उलझ जाता है, उसका व्यक्तित्व भी खण्डित बन जाता है। यह जो समग्रता का दृष्टिकोण है, अनंत धर्म के संग्रह का दृष्टिकोण है, वह तुलनात्मक अध्ययन का दृष्टिकोण है। स्व-समय के साथ पर-समय की जो बात कही जा रही है, उसका यही आधार है। वास्तव में पर-समय कोई है ही नहीं। पूछा गया—जितने धर्म और जितने विचार हैं क्या उनको मिथ्या मानें? समाधान दिया गया—जो मिथ्या दृष्टिकोण वाला है उसके लिए सम्यक् या मिथ्या—सब कुछ मिथ्या है। जिसका दृष्टिकोण सम्यक् हो गया, उसके लिए सम्यग्श्रुत हो या मिथ्याश्रुत—सब कुछ सम्यक् है। हमारे लिए कोई भी धर्म असत्य नहीं है और इसी आधार पर तुलनात्मक अध्ययन के क्रम को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सबका दृष्टिकोण जानें और समझें, यही तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ईसा और जैन धर्म

जब ईसा धर्म की यात्रा में थे, तब वे हिन्दुस्तान में भी आए। कश्मीर में उनका प्रवास रहा। वहां ईसा का बौद्धों से भी काफी संपर्क रहा, जैनों से भी काफी संपर्क रहा और वैदिक लोगों से भी काफी संपर्क रहा। इस तथ्य को बहुत सारे आधारों पर जाना जा सकता है। ईसा के धर्म प्रवर्तन के बाद पहली या दूसरी शताब्दी में ईसाई धर्म का एक बड़ा दल केरल (भारत) आया। त्रिवेन्द्रम, आज जो केरल की राजधानी है, जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र था। आचार्य श्री की केरल यात्रा के दौरान हमने देखा—अनेक मंदिर ऐसे हैं, जहां भीतर दूसरी प्रतिमाएं हैं और बाहर दूसरी। आज भी बाहरी परिसर में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं, अन्य जैन तीर्थकरों की प्रतिमाएं स्थान-स्थान पर लगी हुई हैं। केरल के अनेक विद्वान् मिले, जिन्होंने इस विषय पर व्यापक छानबीन की है, उनका कहना था—पहले ये मंदिर भगवान् पार्श्वनाथ के थे बाद में परिवर्तित हो गए। जैन धर्म के इस प्रमुख केन्द्र में ईसाइयों का जैन श्रमणों के साथ प्रथम मिलन हुआ; ऐसा माना जाता है। उस समय विचारों और कार्यों का काफी आदान-प्रदान हुआ।

दान चतुष्टयी

ईसाई धर्म में सेवा का बहुत स्थान है, प्रेम का बहुत स्थान है। कभी-कभी यह कल्पना उभरती है—यह सेवा की बात ईसाई धर्म के लोगों ने जैनधर्म से तो नहीं सीखी है? अनेक विद्वानों ने एक प्रश्न उपस्थित किया—दक्षिण में जैन धर्म इतना व्यापक कैसे बना? उसकी व्यापकता का कारण क्या रहा? इस प्रश्न की खोज और मीमांसा के बाद विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंचे—दक्षिण में जैन धर्म के व्यापक होने का कारण है—दान चतुष्टयी। वहां जैनों ने चार प्रकार के दान प्रवर्तित किए—

१. अन्नदान
२. विद्यादान
३. औषधदान
४. अभयदान

इन चारों दानों को मुख्यता देने से जैन धर्म व्यापक बनता चला गया।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जैन धर्म : व्यापकता का कारण

जो लोग आजीविका कमाने के लिए समर्थ नहीं हैं, उनके लिए आजीविका की व्यवस्था करना, यह है अन्नदान। शिक्षा की व्यवस्था करना विद्यादान है। यह बहुत व्यापक कार्य जैन लोगों ने किया। विद्वानों ने लिखा है—जब हमने महाराष्ट्र में पढ़ना शुरू किया, तब हमें सबसे पहले पढ़ाया गया—ॐ नमः सिद्धम्। महाराष्ट्र में ही नहीं, पूरे दक्षिण में जैन गुरु यह काम अपने हाथ में लिए हुए थे। वे महात्मा बने और आज मथेरन बन गए हैं। उन लोगों ने विद्या के पूरे काम को संभाला था। तीसरा था औषधदान। औषधि की व्यवस्था करना, चिकित्सा की व्यवस्था करना औषधदान है। चौथा दान था अभयदान। एक दूसरे के प्रति मैत्रीभाव। कोई आतंक नहीं हो, किसी को कोई सताए नहीं। इस दान चतुष्टयी के कारण जैन धर्म जन-धर्म बन गया, लोक-व्यापी बन गया। समाज के साथ एक गहरा तादात्म्य भाव जुड़ गया।

दक्षिण में जैन धर्म

जैन धर्म की दक्षिण में भाषा, साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के विकास में अग्रणी भूमिका रही है। आचार्य श्री दक्षिण यात्रा में मद्रास पधारे। आचार्यवर के स्वागत समारोह का आयोजन किया गया। तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री अन्नादुरै ने आचार्यवर का स्वागत करते हुए कहा—आचार्य श्री! आपका स्वागत करते हुए मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। मुझे इस बात का आश्चर्य है— आपने अपने घर को इतने वर्षों तक संभाला क्यों नहीं। हमारी तमिल भाषा में जितने भी प्रौढ़ काव्य हैं, वे सब जैन आचार्यों के बनाए हुए हैं। आज भी एम.ए. के कोर्स में जितने क्लासिकल काव्य और व्याकरण अनिवार्यतः पढ़ाए जाते हैं, वे सब जैन आचार्यों द्वारा निर्मित हैं। जैसे उत्तर भारत में कोई हिन्दी पढ़ने वाला है, वह सूरदास, मीरा, तुलसीदास, कबीर आदि को पढ़े बिना हिन्दी का कोर्स पूरा नहीं कर सकता वैसे ही तमिल और कन्नड़ में जैन आचार्यों के काव्यों और व्याकरणों को पढ़े बिना कोर्स पूरा नहीं होता।

व्यापकता का रहस्य

हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें। जिस दान चतुष्टयी के कारण जैन धर्म

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

व्यापक बना, आज उसी मार्ग को ईसाई धर्म अपनाए हुए है। ईसाई जो कार्य कर रहे हैं, सेवा कर रहे हैं, वह यही तो है। वे इन तीनों दानों को अपना मिशन बनाए हुए हैं—शिक्षा की व्यवस्था, चिकित्सा की व्यवस्था और आजीविका की व्यवस्था। जहां ये तीनों व्यवस्थाएं होती हैं वहां भय अपने आप मिट जाता है। कहा जा सकता है—आज जो ईसाई धर्म में चल रहा है, वही काम प्राचीन काल में जैन लोगों ने दक्षिण भारत में किया था। जैन धर्म की व्यापकता का कारण भी यही रहा और ईसाई धर्म की व्यापकता का कारण भी यही है।

आंकड़ों की भाषा

तत्त्व को जानने वाले लोग बहुत कम होते हैं। ऐसे कितने लोग हैं, जो तत्त्व को गहराई से समझते हैं, तत्त्व को समझकर किसी धर्म को स्वीकार करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की संख्या नगण्य ही कही जा सकती है। आंकड़ों की भाषा है—जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या है एक करोड़ और ईसाई धर्म के अनुयायी हैं एक अरब से भी अधिक। इसका कारण यही हो सकता है—जैन लोगों ने समाज के साथ संपर्क करने वाली बातें भुला दी और कोरा तत्त्वज्ञान को अपना लिया। तत्त्व को समझने वाले लोग कितने होते हैं! कितने लोग तात्त्विक हो सकते हैं! सामान्य आदमी तत्त्व को समझकर किसी धर्म को स्वीकार नहीं करता। सामान्यतः आदमी अपनी श्रद्धा या अच्छी विशेषता के कारण धर्म विशेष के प्रति आकृष्ट होता है। वह सोचता है—क्या मिलेगा इस धर्म से? मुख्य होती है कुछ पाने या मिलने की बात। तत्त्व की बात कुछ और ही होती है।

दार्शनिक सोलन

यूनान का एक प्रसिद्ध दार्शनिक हुआ है सोलन। यूनान के बादशाह ने एक विशाल महल बनवाया। वह बहुत भव्य और दार्शनीय था। जो भी आता, उसे देखता, प्रशंसा किए बिना नहीं रहता। बादशाह ने सोचा—सब लोग आते हैं, प्रशंसा के गीत गाते हैं, किन्तु जब तक सोलन प्रशंसा नहीं करता, तब तक कुछ भी नहीं है।

उस व्यक्ति का मूल्य होता है, जो बहुत कम बोलता है। सोलन दार्शनिक था। वह प्रशंसा के मामले में बहत कंजूस था। वह सदा तत्त्व

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

की बात में खोया रहता। जो व्यक्ति तत्त्व की गहराई में पहुंच जाता है, तत्त्व की ऊंचाई को छू लेता है, उसके सामने प्रशंसा करने की बात बहुत कम हो जाती है। प्रशंसा वही व्यक्ति ज्यादा करता है, जो तत्त्व की गहराई का स्पर्श नहीं करता।

बादशाह की अभीप्सा

हजारों - हजारों लोग महल की प्रशंसा कर रहे थे, पर बादशाह को संतोष नहीं हुआ। बादशाह ने सोचा—जिस दिन सोलन आकर प्रशंसा करेगा, उस दिन मानूंगा—वास्तव में ही महल सुन्दर और भव्य बना है। एक दिन बादशाह ने सोलन को बुलाया। सोलन बादशाह के सामने प्रस्तुत हो गया। बादशाह स्वयं सोलन को महल दिखाने के लिए तैयार हुआ। बादशाह सोलन के साथ पूरे महल में घूम रहा है, प्रत्येक कमरे की ओर संकेत करके बता रहा है—यह प्रासाद का मुख्य कक्ष है, यह डाइनिंग हाल है, यह सभा-कक्ष है, यह शयन-कक्ष है। आप देखिए—फर्श कितना बढ़िया है, शीशे जैसा चमक रहा है। महल की जितनी विशेषताएं थीं, बादशाह सोलन को बताता जा रहा था। सोलन ने एक शब्द भी प्रतिक्रिया में नहीं कहा। बादशाह ने सोचा—मैंने कितना श्रम किया; पसीना बहाया फिर भी यह मौन साधे हुए है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सोलन का जबाब

पूरा महल देखने के बाद बादशाह और सोलन—दोनों बाहर आ गए। बादशाह का मन क्षोभ से भर गया—मेरा इतना अपमान! इतना तिरस्कार! इतने सुन्दर महल के लिए दो शब्द भी नहीं। बादशाह से रहा नहीं गया। वह प्रतिक्रिया जानने के लिए व्यग्र था। उसने कहा—महान् दार्शनिक सोलन! आपने मेरा महल देखा?

हां, देख लिया।

कैसा लगा?

जैसा था, वैसा लगा।

इतनी बढ़िया सामग्री! इतने बढ़िया कमरे! आपको कैसा लगा? कितना अच्छा लगा?

महाराज! मैंने सारा देख लिया। इसमें प्रशंसा करने जैसा कुछ भी नहीं

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

लगा। जैसा लगा है, वैसा कहूंगा तो आपको अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए मेरा मौन रहना ही अच्छा है।

बादशाह यह सुनकर स्तब्ध रह गया।

जहां तत्त्व की बात होती है वहां भव्यतम प्रासाद की प्रशंसा नहीं होती। छोटी-मोटी बात का मूल्य ही क्या होगा? कोई भी धर्म या संप्रदाय तत्त्व के आधार पर व्यापक या आंकड़े वाली गणना नहीं बता सकता। जो संख्या का विस्तार हुआ है या होता है, वह सामाजिक व्यवस्था, सौहार्द, प्रेम और सेवा के आधार पर हुआ है। तत्त्व की गहराई में जाना बहुत कठिन काम है। सामान्य आदमी तत्त्व की गहरी चर्चा को सुनना ही पसंद नहीं करता।

ईसा के उपदेश

ईसा के जो उपदेश हैं, वे एक सामाजिक व्यक्ति के व्यवहार से सीधे जुड़े हुए हैं। सामाजिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ईसा की शिक्षाएं बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—

किसी की हत्या न करना।

व्यभिचार न करना।

चोरी न करना।

झूठी गवाही न देना।

धन के लालच में न आना। लोभ सब बुराइयों की जड़ है। धन को न साथ लाए हैं और न साथ ले जाएंगे।

ईसा ने क्षमा धर्म पर भी बहुत बल दिया। पतरस ने पूछा—हे प्रभु! मेरा भाई अपराध करता रहे तो उसे कितनी बार क्षमा करूं? क्या सात बार तक क्षमा करूं?

ईसा ने कहा—सात बार ही क्यों? सात बार के सत्तर गुना तक उसे क्षमा कर।

यह क्षमादान अपनत्व पैदा करता है। सामाजिक सौहार्द और विस्तार में क्षमा, उदारता, प्रेम, परस्परता जैसे गुणों का विकास बहुत उपयोगी होता है। ईसाई धर्म ने इन सबका व्यवहार के स्तर पर समाजीकरण किया है। उसके प्रति आकर्षण का यह प्रमुख कारण है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अहिंसा और प्रेम का समाजीकरण

निश्चय या शुष्क दर्शन की चर्चा सामान्य व्यक्ति को आकर्षित नहीं करती। वह आकर्षित होता है व्यवहार के आधार पर। ईसाई धर्म में अहिंसा, प्रेम या मैत्री का समाजीकरण है। ईसाई धर्म के व्यक्तियों ने अहिंसा को समाज में प्रतिबिम्बित किया है, समाज से जुड़कर जीवन जिया है। समाज के साथ व्यवहार के धरातल पर प्रेम को कैसे जीया जाए, यह सूत्र ईसाई धर्म के सामने रहा है।

अल्बर्ट आईंस्टीन एक महान् विचारक व्यक्ति थे। उन्होंने बुद्ध, महावीर तथा भारतीय संतों पर काफी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। वे अफ्रीका के जंगलों में गए। ऐसे जंगल, जहां भयंकर मच्छर और जानवर होते हैं। उन जंगलों में आदमी का रह पाना मुश्किल था। वहां रहने वाले आदिवासी बहुत खूंखार होते थे। वे आदमी को भी खा जाते। आईंस्टीन वैसे जंगलों में झोंपड़ी बांधकर रहे। उन खूंखार आदिवासियों के साथ प्रेम-भरा व्यवहार किया। धीरे-धीरे उनको समझाना शुरू किया, सभ्य बनाना शुरू किया। उनकी सेवा में रहे और तब तक उस कार्य में अहर्निश जुटे रहे, जब तक वह जाति सभ्य न बन गई। अपनी सेवा से आईंस्टीन ने आदिवासी जीवन जीने वाले व्यक्तियों को सभ्य आदमी की तरह रहना सिखा दिया। सेवा के क्षेत्र में आईंस्टीन दुनिया के प्रसिद्ध व्यक्ति बन गए। विश्व के बड़े से बड़े पुरस्कार आईंस्टीन को उपलब्ध हुए।

यह है अहिंसा, प्रेम और मैत्री का समाजीकरण।

व्यक्तिगत साधना : सामाजिक संपर्क

हम केवल आदर्श की बात करें, व्यवहार के स्तर पर कुछ भी न करें तो वह बात कुछ समझ में नहीं आती। ऐसा लगता है—जैन धर्म के लोग निश्चय नय के पक्ष पर ज्यादा चले गए। जो निश्चय के पक्ष पर जाएंगे, वे आत्म-साधना की बात भले ही कर लें वहां संख्या की बात नहीं होगी। वहां मोक्ष की बात होगी पर समाज को सुधारने की बात नहीं होगी।

आचार्यवर की केरल यात्रा में अनेक बार चर्च में रहने के अवसर आए। उन प्रवासों में अनेक पादरी और सिस्टर्स से वार्तालाप हुआ। उन्होंने कहा—हमें यह काम तो दिया गया कि सेवा करो किन्तु व्यक्तिगत साधना

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

के लिए कुछ भी नहीं बताया गया। हमारे मन में बड़ा असंतोष रहता है। हम क्या करें? आप हमारे अपने जीवन के लिए कुछ बताएं? पादरी घंटों तक हमारे पास बैठे रहते, ज्ञान की बात पूछते, साधना विषयक जिज्ञासाएं करते, व्यक्तिगत साधना के लिए मार्गदर्शन लेते।

व्यवहार और निश्चय

दोनों प्रश्न हमारे सामने हैं—व्यक्तिगत साधना का प्रश्न भी और समाज के साथ संपर्क का प्रश्न भी। निष्कर्ष की भाषा यह होगी—ये दोनों नय हैं। एक नय है व्यक्तिगत साधना का और दूसरा नय है अहिंसा के सामाजीकरण का। दोनों अलग-अलग रहते हैं तो शायद दोनों में कठिनाई होती है। अगर दोनों का समाहार हो जाए तो समस्या सुलझ जाए। समाज के स्तर पर किस प्रकार समाज के व्यक्तियों का उत्थान हो सकता है? किस प्रकार सामाजिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है? यह है व्यवहार नय। अपना उत्थान कैसे हो, यह है निश्चय नय। यदि दोनों समानांतर रेखा की भांति साथ-साथ चलें तो पूर्णता की संभावना की जा सकती है।

साझेदारी का अनुभव करें

ऐसा लगता है—प्रकृति को पूरी बात मान्य नहीं है। यदि एक ही धर्म सब काम करने लग जाए तो दूसरे क्या करेंगे। कार्य का एक सहज विभाजन हो गया। हम यह कल्पना न करें—जैन धर्म के हिस्से में निश्चय नय की बात आ गई, आत्म-साधना या मोक्ष का मार्ग आ गया और ईसाई धर्म के हिस्से में समाज सेवा करना, गरीबों का उत्थान करना आदि कार्य आ गया। हम यह मानें—यह साझेदारी का काम है। हालांकि जैन समाज वर्तमान में समाज सेवा के अनेक कार्यों में अग्रणी भूमिका निभा रहा है और अपने व्यापक आधार को पुनः उपलब्ध करने की दिशा में गति कर रहा है। ईसाई और जैन—दोनों भाई-भाई हैं। हमारी एक साझेदारी है। एक भाई को काम मिला है — आत्मतत्त्व के प्रसार का और दूसरे भाई को काम मिला है समाज सुधार का।

परस्परता का भाव जागे

हम भाईचारे का अनुभव करें, साझेदारी का अनुभव करें। ऐसा

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मानें—एक गुरु के दो शिष्य हैं। गुरु ने उन दोनों को दो अलग-अलग क्षेत्रों में काम करने का दायित्व सौंप दिया है। दोनों शिष्य अपने अपने काम की पूर्ति में निष्ठा से लगे हुए हैं। गुरु के कार्य में दोनों की साझेदारी है।

तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है—साझेदारी का अनुभव करना। न हीनता और न उत्कर्ष। न तिरस्कार और न घृणा। किन्तु परस्परता—एक-दूसरे का पूरक होने का भाव। दुनिया के महान् साम्राज्य में रहने वाले सब लोग अपनी साझेदारी का, अपने पर आए हुए दायित्व का अनुभव करे तो बहुत अच्छा समन्वय सध जाए। न किसी का खण्डन और न किसी का मण्डन! न किसी का तिरस्कार और न किसी को पुरस्कार। सबका अपना अपना काम और अपना अपना योग। इस योग के आधार पर हम साझेदारी की भावना को आगे बढ़ाएं तो तुलनात्मक अध्ययन के संदर्भ में एक नया दृष्टिकोण उपलब्ध हो सकेगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ध्यान की विभिन्न धाराएं

योग का आदि - बिन्दु

ध्यान की परम्परा बहुत प्राचीन है। उसका आदिस्रोत खोजना बहुत कठिन है। यह प्राग्-ऐतिहासिक है। उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर योग के आदि - विन्दु की कल्पना की जा सकती है। आदिनाथ को योग का प्रवर्तक वतलाया गया है।[1] 'आदिनाथ' यह नाम जैन और शैव—दोनों परंपराओं में प्रसिद्ध है। जैन परंपरा में आदिनाथ भगवान् ऋषभ का नाम है और शैव परम्परा में आदिनाथ शिव का नाम है। आधुनिक विद्वानों का अभिमत है कि ऋषभ और शिव—दोनों एक ही व्यक्ति हैं। वह दो भिन्न परंपराओं में दो नामों से प्रतिष्ठित हैं। आचार्य शुभचन्द ने ज्ञानार्णव के प्रारंभ में भगवान् ऋषभ की एक योगी के रूप में वंदना की है।[2] महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ योग का वेत्ता है। उससे पुराना कोई योगवेत्ता नहीं है।[3] सांख्य योग परंपरा में हिरण्यगर्भ सगुण ईश्वर के रूप में मान्य रहा है। श्रीमद् भागवत में भगवान ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।[4] उन्होंने नाना योग चर्याओं का चरण किया था।[5] संभव है उनके ऋषभ, आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा—ये नाम प्रचलित थे।

---

1. हठयोग प्रदीपिका : १/१७

   श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
   विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।

2. ज्ञानार्णव १/२

   योगिकल्पतरुं नौमि, देवदेवं वृषभध्वजं।

3. महाभारत शान्तिपूर्व : अ. ३४९/६५

   हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्तानान्यः पुरातनः।

4. श्रीमद् भागवत : ५/४/३

   भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर :।

5. श्रीमद् भागवत ५/५/२६

   नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभ।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्राग् ऐतिहासिक काल में

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एक मात्र पति है।[1] किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी? शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है। कई विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वानों का कहना है कि वह संसारी है।[2] यह संदेह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[3] आत्म-विद्या संन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ "ऋषभ" ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उनका एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ में थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया।[4]

हिरण्यगर्भ सांख्य दर्शन में मान्य सगुण ईश्वर या पुरुष विशेष है इसलिए प्राग्-ऐतिहासिक काल में ध्यान परंपरा का आदि बिन्दु भगवान ऋषभ, शैव और सांख्य पद्धति में खोजा जा सकता है।

ध्यान : ऐतिहासिक काल में

ऐतिहासिक काल में ध्यान परंपरा के स्रोत सांख्य, शैव, तंत्र, बौद्ध, जैन और नाथ संप्रदाय में उपलब्ध हैं। सांख्य दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतंजलि के योग-दर्शन में मिलता है। वह ई.पू. दूसरी शताब्दी की रचना है। पाणिनि के भाष्यकार, चरक के प्रति-संस्कर्ता और योग-दर्शन के कर्ता महर्षि पतंजलि एक ही व्यक्ति हैं। अतः उनका अस्तित्वकाल पाणिनी के बाद का है। मौर्य साम्राज्य का अस्तित्व ई.पू. ३२२ से १८६ तक माना जाता है। मौर्य-वंश का अंतिम राजा बृहद्रथ

---

1. ऋग्वेद, १०/१०/१२१/१
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स सदाधारपृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

2. बृहदारण्यकोपनिषद्, १/४/६, भाष्य, प. १८५ :
अत्र विप्रतिपद्यन्ते — परं एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

3. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक् ६२, सायण भाष्य।

4. महापुराण, १२/९५
सैषा हिरण्यमयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभो! हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्।।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

था। वह ई.पू. १८५ में अपने सेनापति पुष्यमित्र द्वारा मारा गया था। महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र के समकालीन थे। इस तथ्य के आधार पर उनका अस्तित्व काल ई.पू. दूसरी शताब्दी है। बौद्ध-दर्शन का साधनामार्ग अभिधम्मकोष (ई. सन् पांचवी शताब्दी) और विशुद्धिमग्ग (ई. सन् पांचवी शताब्दी) में उपलब्ध है। आचारांग ई. पू. पांचवीं शताब्दी की रचना है।

ध्यानः प्रतिनिधि ग्रंथ

पातंजल योग दर्शन सांख्य सम्मत ध्यान पद्धति का प्रतिनिधि ग्रंथ हैं। अभिधम्म कोश और विशुद्धिमग्ग बौद्ध सम्मत ध्यानपद्धति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। आचारांग जैन साधना पद्धति और ध्यान पद्धति का मौलिक ग्रंथ है। भगवान पार्श्व ध्यान पद्धति के उन्नायक थे। उनकी ध्यानपद्धति जैन शासन और बौद्ध-शासन—दोनों में संक्रान्त हुई है। विपश्यना ध्यान आचारांग और विशुद्धिमग्ग-दोनों में उपलब्ध है।

सांख्य साधना पद्धति

महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में योग की व्यवस्थित पद्धति भी निरूपित है। उसकी अष्टांग योग प्रणाली में योग बहिरंग और अंतरंग — इन दो भागों में विभक्त किया गया। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार — ये बहिरंग योग हैं। धारणा, ध्यान और समाधि — ये तीन अंतरंग योग हैं।[1] यह स्वीकार करने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उपलब्ध ध्यान ग्रंथों में पातंजल योगदर्शन सर्वांगीण और सुव्यवस्थित ग्रंथ है। इसमें कुण्डलिनी योग और षट् चक्र का निरूपण नहीं है। बौद्ध ध्यान पद्धति में भी उनका वर्णन नहीं है। तंत्रशास्त्र, नाथ साधना पद्धति और हठयोग में उनका निरूपण हुआ है।

तंत्र साधना

भारत में तंत्र की परंपरा भी बहुत प्राचीन है। ईसा से पंद्रह सौ वर्ष पूर्व तंत्र विद्या भारत से बाहर जा चुकी थी। उत्तरकालीन बौद्धों ने तंत्र को बहुत महत्त्व दिया। बौद्ध तंत्र ने विपश्यना का स्थान ले लिया। तंत्र प्रधान

1. पातंजल योगदर्शन ३/७ त्रयमंतरंगे पूर्वेभ्यः।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बन गया। तंत्र के प्रभाव से जैन परंपरा भी अस्पृष्ट नहीं रह सकी। जैन आचार्यों ने भी तंत्र पर विशाल साहित्य रचा।

चक्र और कुण्डलिनी

चक्र और कुण्डलिनी – ये ध्यान के बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयोग हैं। जैन ध्यान पद्धति में इनका समावेश प्राचीन काल से रहा है। नाम भेद के कारण उसका आकलन नहीं किया जा सका। आगम साहित्य तथा उत्तरवर्ती प्राचीन साहित्य में चक्र पद्धति का विशद वर्णन मिलता है।[1] जैन साहित्य में तेजोलब्धि का अनेक स्थलों में निरूपण हुआ है। यह तंत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रंथों में निरूपित कुण्डलिनी है।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य में कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है। वह तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुण्डलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग में कुंडलिनी का जो वर्णन है, उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।[2]

शैव परंपरा

शैव परंपरा में विज्ञान भैरव बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें ध्यान की सौ से अधिक पद्धतियां बतलाई गई हैं। उसके अनुभवी साधक कम मिलते हैं पर संकलन की दृष्टि से निश्चित ही वह विशिष्ट ग्रंथ है।

बौद्ध ध्यान प्रणाली

भगवान् बुद्ध ध्यान - प्रधान साधक थे। उन्होंने ध्यान पर अत्यधिक बल दिया। उन्होंने आनापानसती और विपश्यना के विशेष प्रयोग किए।

1. मनन और मूल्यांकन (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ठ-७८-८४।
2. जैन योग (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृष्ठ-१५३।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ईसा की छठी शताब्दी में बोधिधर्म नाम के एक भिक्षु हुए। उन्होंने ध्यान संप्रदाय की स्थापना की। वह ध्यान संप्रदाय कोरिया और जापान में भी फैला। भगवान बुद्ध ने अपने अगोचर सत्य और परम शुद्ध ज्ञान को महाकाश्यप के मन में संप्रेषित किया। महाकाश्यप ने वह ज्ञान आनंद के मन में संप्रेषित किया। बुद्ध परंपरा के अनुसार ब्रुद्ध के उद्गम से निकलकर ध्यान-सम्प्रदाय के ज्ञान की यह धारा क्रमशः महाकाश्यप और आनन्द में होकर गुरु-शिष्य क्रम से निरन्तर बहती चली गई और भारत में बोधिधर्म इसके अट्ठाईसवें और अन्तिम गुरु हुए। ध्यान-सम्प्रदाय के इतिहास-ग्रन्थों में इन अट्ठाईस धर्माचार्यों के नाम सुरक्षित हैं, जो महाकाश्यप से आरम्भ कर इस प्रकार हैं—

१. महाकाश्यप	११. पुण्ययशस्	२१. वसुबन्धु
२. आनन्द	१२. अश्वघोष	२२. मनुर
३. शाणवास	१३. भिक्षु कपिमाल	२३. हक्लेनयशस् (या केवल हक्लेन)
४. उपगुप्त	१४. नागार्जुन	२४. भिक्षु सिंह
५. धृतक	१५. काणदेव	२५. वाशसित
६. मिच्छक	१६. आर्यराहुलक	२६. प्रज्ञातर
७. वसुमित्र	१७. संघनन्दी	२७. पुण्यमित्र
८. बुद्धनन्दी	१८. संघयशस्	२८. बोधिधर्म
९. बुद्धमित्र	१९. कुमारिल	
१०. भिक्षु पार्श्व	२०. जयंत	

इस धारा के अनुसार बोधिधर्म अट्ठाईसवें और अन्तिम धर्मनायक हैं और वे चीन में ध्यान संप्रदाय के प्रथम धर्म नायक हुए हैं।[1]

ईसा की छठी शताब्दी में ही बौद्ध धर्म की तंत्र शाखा का विकास हुआ। यह धीमें-धीमें बुद्ध के मार्ग से दूर हटती गई। इसने इन्द्रिय भोग का समर्थन शुरू कर दिया। ध्यान के स्थान पर मंत्र का जप प्रधान बन गया।

1. ध्यान संप्रदाय डा० भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ १३-१४।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हठ योग

हठ योग तंत्रशास्त्र, शैव साधना पद्धति और पातंजल योग-दर्शन से प्रभावित है। गोरक्ष पद्धति में योग के छः अंग बतलाए गए – आसन, प्राण-संरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[1] हठयोग प्रदीपिका में राजयोग के लिए हठविद्या की आवश्यकता बतलाई गई है।[2] हठविद्या का मूल नाथ-साधना पद्धति है।[3] उसमें नाथ संप्रदाय की परंपरा दी गई है। उस परंपरा में आदिनाथ प्रथम हैं। दूसरा स्थान मत्स्येन्द्रनाथ का है।[4] हठयोग प्रदीपिका में आसन को प्रथम स्थान दिया गया है।[5] हठयोग में षट्कर्म, बंध, मुद्रा आदि का विकास हुआ है।

नाथ संप्रदाय

नाथ संप्रदाय को कुछ विद्वान बौद्ध परंपरा से अनुस्यूत मानते हैं। कुछ विद्वान् नाथ संप्रदाय का संबंध जैन परंपरा से जोड़ते हैं।

अब यह सिद्ध हो गया है कि नेमिनाथ की भारतीय लोक जीवन में गहरी पैठ थी, यह तथ्य गोरखपंथियों में अन्तर्भुक्त 'नीमनाथी' संप्रदाय से भी सिद्ध होता है। इस संदर्भ में सन्त परम्परा में प्रचलित 'सद्गुरु' शब्द है, यह जैनियों का शब्द है। इसका उनके अलावा और कहीं प्रयोग नहीं मिलता। जैन कवियों ने इसका प्रयोग किया है। हरिवंश-पुराण में भीलों के श्रावक व्रत ग्रहण करने के वर्णन भी आए हैं।

नेपाल के 'पेन-पो' संप्रदाय पर अनुसंधान होने से भी पार्श्वनाथ के जीवन पर नया प्रकाश पड़ सकता है। 'पेन-पो' पश्चिम नेपाल का एक

1. गोरक्ष पद्धति १/७ आसनं प्राण-संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधि एतानि योगांशानि वदन्ति षट्।।
2. हठयोग प्रदीपिका १/२ प्रणम्य श्री गुरुं नाथं, स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय, हठविद्योपदिश्यते।।
3. हठयोग प्रदीपिका १/४ हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाया विजानंते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः।।
4. हठयोग प्रदीपिका १/५ श्री आदिनाथ मत्स्येन्द्रशावरानंदभैरवः।
5. हठयोग प्रदीपिका १/१७ हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्।।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दिगम्बर संप्रदाय है। इसके मानने वाले ठाकुर कहलाते हैं। यह नग्न खड्गासनी मूर्तियां पूजते हैं। इनकी मान्यताएं जैनियों से मेल खाती हैं। ईश्वर के कर्तृत्व पर इनकी आस्था नहीं है और ये विशुद्ध शाकाहारी हैं।[1]

'चांदनाथ संभवतः वह प्रथम सिद्ध थे, जिन्होंने गोरक्ष मार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैन साधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।[2]'

जैन साधना पद्धति में आसन

जैन साधना पद्धति में यम-नियम प्रारंभ से ही मान्य हैं। आसन भी मान्य रहे हैं। बौद्ध साधना पद्धति में आसनों के लिए कोई स्थान नहीं है, किन्तु जैन साधना पद्धति में उन्हें बहुत मूल्य दिया गया है। भगवान् महावीर स्वयं अनेक आसनों का प्रयोग करते थे। उन्हें केवलज्ञान आसन की विशेष मुद्रा में उपलब्ध हुआ था।[3] स्थानांग सूत्र में निषद्या के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं[4]—

१. उत्कटुका — पुतो को भूमि से छुआए बिना पैरों के बल पर बैठना।
२. गोदोहिका — गाय की तरह बैठना या गाय दुहने की मुद्रा में बैठना।
३. समपादपुता — दोनों पैरों और पुतों को छुआ कर बैठना।
४. पर्यंका — पद्मासन।
५. अधपर्यंका — अर्ध पद्मासन।

जैन आचार्यों ने कुछ शर्तों के साथ प्राणायाम को भी मान्य किया है।[5]

साधना की परंपराएं

ध्यान की तीन परंपराएं मिलती हैं। प्राचीनतम ध्यान पद्धति का नाम है

---

1. तीर्थंकर, नवम्बर १९७१, पृष्ठ ४-६।
2. नाथ संप्रदाय (हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ. १९०
3. आयारचूला १५/३८
4. ठाणं ५/५०
5. महावीर की साधना का रहस्य (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ. २७०-२७८

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

— विपश्यना, पश्यना[1] या पासणिया[2]। दूसरी श्रेणी की ध्यान पद्धति है — धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान, जिसका वर्णन स्थानांग में विस्तार के साथ उपलब्ध है। श्वेताम्बर और दिगम्बर — दोनों परम्पराओं के साहित्य में दीर्घकाल तक इसी पद्धति का अनुसरण किया गया। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा और जंबू — ये केवली हुए। केवली परंपरा के विच्छिन्न होने के पश्चात् श्रुतकेवली की परंपरा चली। चतुर्दश पूर्वी श्रुतकेवली कहलाते हैं। छः श्रुतकेवली हुए — प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र। भद्रबाहु ने महाप्राण ध्यान की साधना की थी और यह माना जाता है कि चतुर्दश पूर्वी ही महाप्राण ध्यान की साधना कर सकता है। महाप्राण ध्यान के विषय में यत्र-तत्र कुछ जानकारी है पर इसकी विशेष विधि का व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नहीं है।

ध्यान पद्धति : कुछ आयाम

आचार्य कुन्दकुन्द की ध्यान पद्धति ज्ञाता-द्रष्टा शुद्धोपयोग प्रधान थी। वह भी प्राचीन परंपरा से अनुस्यूत है। पूज्यपाद का समाधितंत्र भी उसी कोटि का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हरिभद्र सूरि ने ध्यान की पद्धति को एक नया आयाम दिया। इस विषय में योगविंशिका और योगदृष्टि समुच्चय — दोनों ग्रंथ द्रष्टव्य हैं। अन्य प्रचलित ध्यान पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा जैन परिभाषा के साथ उसका सामञ्जस्य बिठाने में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुभचंद्र के ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचंद्र के योगशास्त्र में तंत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उसमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का वर्णन तथा पार्थिवी, वारुणी आग्नेयी, वायवी और तत्वरूपा — इन पांच धारणाओं का उल्लेख जैन ध्यान पद्धति के क्षेत्र में नया संग्रहण है। पिछली आठ दस शताब्दियों में इन्हीं का प्रयोग होता रहा। उपाध्याय यशोविजयजी ने हरभिद्रसूरि का अनुकरण किया है।

ध्यान विचार : महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

ध्यानविचार एक अज्ञातकर्तृक कृति है। उसमें ध्यान के चौबीस मार्ग

1. पन्नवणा ३०/१५।
2. पन्नवणा ३०/१

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

बतलाए गए हैं — ध्यान, परमध्यान, शून्य, परमशून्य, कला, परमकला, ज्योति, परमज्योति, बिन्दु, परमबिन्दु, नाद, परमनाद, तारा, परमतारा, लय, परमलय, लव, परमलव, मात्रा, परममात्रा, पद, परमपद, सिद्धि, परमसिद्धि। प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है। उसमें एतद्विषयक प्राकृत गाथा उद्धृत है।[1] उससे पता चलता है कि यह चौबीस ध्यान की परंपरा ग्रन्थकाल से प्राचीन काल में रही है। यह ग्रन्थ ध्यान की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें ध्यान के विविध मार्गों का समाहार है। ध्यान के इन चौबीस मार्गों का प्रयोग जैन परंपरा में कब से प्रारंभ हुआ और कब तक होता रहा — इस बारे में निश्चय पूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। यह विषय अन्वेषणीय है।

जपयोग

आनंदघनजी और चिदानंदजी जैसे कुछ योगी संत हुए हैं। उनकी साधना अध्यात्म-चिन्तन, जप, मंत्र और स्वरोदय से प्रभावित रही है।

जैन परंपरा में मंत्र साधना के साथ साथ जपयोग का भी विकास हुआ है। उसका इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पुराना है।

ध्यान और जयाचार्य

ईसा की अठारहवीं शताब्दी में जयाचार्य ने ध्यान पर कुछ लघु ग्रन्थ लिखे। पद्धति की दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण हैं[2]। ध्यान-विधि के संदर्भ में जयाचार्य के कुछ निर्देश ये हैं—

---

1. *ध्यान विचार पृ. १ श्लोक १*

   सुन्नकलजोइबिन्दू, नादो तारा लओ लवो मत्ता।
   पयसिद्धी परमजुया झाणाइं हुंति चउवीसा।।

2. *आराधना श्लोक (२-६) पृ. १५*

   धर आसन एकान्त रहि, प्राणायाम प्रसाधि।
   भ्रूमध दृष्टि सुथाप मन, सझिये ध्यान समाधि।।

   पद पर ध्यान पदस्थ वर, "अध्रुवे" इत्यादीन।
   निज दीनक दुख चिन्तवन, उदासीन आसीन।।

   अनापान— जन स्थान जई, तन मन स्थिर धर ध्यान।
   वो दिन वेला कब हुवै, मिटत धंध दुःख-खान।।

   मध्याह्न संध्या पछै, प्रात समय निशि माध।
   अवश्य नियम करि ने जुड़्यां, मिटियै विषय-उपाध।।

   अन्न वस्त्रादि ममत्वछिन्, कठिन वचन नहु कोप।
   स्तुति हरनै नहि दुमनि वर, धीरपणो चित रोप।।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एकान्त स्थान में स्थिर आसन में बैठें। प्राणायाम की साधना कर दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापित कर ध्यान और समाधि का अभ्यास किया जाए।

पद पर ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। 'अधुवे' इत्यादि पदों पर ध्यान किया जाए अथवा समभाव में स्थिर होकर अपने में बीती हुई दुःखद घटनाओं का चिंतन किया जाए।

आवागमन से शून्य स्थान में शरीर और मन को स्थिर बना ध्यान किया जाए। वह दिन या वेला कब आएगी, जब दुःख पैदा करने वाले मानसिक द्वन्द्व समाप्त होंगे।

प्रातःकाल, मध्याह्न अथवा संध्या के समय ध्यान करने से निश्चित ही विषय की उपाधि मिट जाती है।

भोजन और वस्त्र आदि के ममत्व को छेद डाल, कठोर वचन सुनकर क्रोध मत कर, स्तुति में हर्ष और निन्दा में विषाद मत कर, चित्त को धृति में स्थापित कर।

प्रेक्षाध्यान और उसका प्राणतत्त्व

आचार्य श्री तुलसी की ध्यान के विषय में एक कृति है—मनोनुशासनम्। उसमें पातंजल योग दर्शन, आचार्य हेमचंद्र के योग-शास्त्र आदि का प्रभाव है किन्तु उस ग्रन्थ में एक नया प्रस्थान है। योग की परिभाषा प्राचीन परिभाषाओं से भिन्न है, जैन साधना की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।[1] मनोनुशासनम् के बाद प्रेक्षाध्यान की पद्धति का विकास हुआ है। वह आचारांग की प्राचीनतम ध्यान परंपरा के अधिक निकट है। इस पद्धति में हठयोग, विज्ञान आदि का भी उपयोग किया गया है किन्तु इसका प्राणतत्त्व आचारांग की प्रणाली है।[2]

---

1. मनोनुशासनम् १/११, १२
मनोवाक्-काय-आनापान—इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः। शोधनं च।

2. प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप- (युवाचार्य महाप्रज्ञ)।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रेक्षा और विपश्यना

प्रेक्षा ध्यान का उद्देश्य है – आत्मा का साक्षात्कार, आत्म-दर्शन। मन की शांति, शारीरिक स्वास्थ्य और तनाव विसर्जन – ये प्रेक्षा ध्यान के परिणाम हैं। उसका मूल उद्देश्य है – चित्त की निर्मलता और आत्मा की अनुभूति।

ध्यान की दो प्रणालियां

आज ध्यान की बहुत सारी प्रणालियां प्रचलित हैं। प्रेक्षा ध्यान की प्रणाली उन सबसे कुछ भिन्न है। ध्यान की एक प्रणाली है विपश्यना। यह बौद्ध-ध्यान की प्रणाली है। प्रेक्षा जैन साधना की प्रणाली है। प्रेक्षा के प्रयोग भी चलते हैं, विपश्यना के प्रयोग भी चलते हैं। प्रेक्षा और विपश्यना– इन दोनों शब्दों का अर्थ एक है– देखना। लेकन इनकी पद्धति और दर्शन एक नहीं है। विपश्यना-ध्यान पद्धति का प्रयोग करने वाली एक बहिन ने कहा – 'महाराज! मैं विपश्यना के प्रयोगों में जाती हूं। विपश्यना में और सब-कुछ ठीक है, उससे मन की शांति भी मिलती है पर उसमें आत्मा की बात नहीं है, आत्म-साक्षात्कार की बात नहीं है।' विपश्यना में आत्मा की बात हो भी नहीं सकती क्योंकि जो बौद्धों की प्रणाली है, उसमें आत्मा की बात कैसे होगी? बुद्ध ने आत्मा को अव्याकृत कहा है। यह मूलभूत अन्तर है प्रेक्षा और विपश्यना में। यह एक ऐसा बिन्दु है, जिससे प्रेक्षा और विपश्यना के आधारभूत अन्तर को समझा जा सकता है।

विपश्यना : दार्शनिक आधार

अनेक लोग कहते हैं–विपश्यना में आनापानसती और काय-विपश्यना का प्रयोग चलता है और प्रेक्षा ध्यान में भी श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग हैं। इन दोनों में अन्तर क्या है?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षा में भी है। अन्तर श्वास का नहीं है, अन्तर है दर्शन की पृष्ठभूमि का, दार्शनिक आधार का। जब तक हम उसके आधार को न समझ लें तब तक केवल प्रयोग के आधार पर समानता और असमानता की बात समझ में नहीं आ पाएगी। प्रेक्षा ध्यान का आधार है जैन दर्शन और विपश्यना का आधार है बौद्ध दर्शन। बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दुःख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए तीन शर्तें हैं — अनित्य का ज्ञान, दुःख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनों का ज्ञान होने पर विपश्यना प्रगट होती है। बौद्ध दर्शन का सिद्धांत है — क्षणिकवाद। प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है। यह विपश्यना का एक मूल आधार है।

विपश्यना का दूसरा आधार है दुःख का ज्ञान। जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण — ये दुःख हैं। यह दुःख का ज्ञान विपश्यना का आधार तत्त्व है।

विपश्यना का तीसरा मूल आधार है — अनात्म का ज्ञान।

जब इस त्रिपदी का ज्ञान स्पष्ट होता है तब विपश्यना प्रगट होती है।

प्रेक्षा : दार्शनिक आधार

प्रेक्षा कब होती है? जब नित्यानित्य का ज्ञान होता है तब प्रेक्षा होती है। उत्पाद और व्यय को ध्रौव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन की भाषा में जो सत् है वह त्रयात्मक है। नित्य और अनित्य — दोनों का ज्ञान, यह प्रेक्षा का पहला आधार है।

जैन दर्शन में केवल दुःखवाद का स्वीकार नहीं है। जितना स्थान दुःख का है उतना ही सुख का स्थान है। भगवान् महावीर ने जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग — इन चारों दुःखों को स्वीकार किया है, साथ-साथ सुख को भी स्वीकार किया है। जैन दर्शन एकान्त दुःखवादी नहीं है। पौद्गलिक सुख भी सुख है। साधना-काल में भी सुख की अनुभूति होती है इसलिए सुखवाद भी मान्य है।

प्रेक्षा ध्यान का एक उद्देश्य है — निर्मोह होना। उसका एक उद्देश्य अज्ञान से मुक्त होना भी है। ज्ञानावरण से मुक्त होना है, सर्वज्ञ होना है। सर्वज्ञता भी जैन दर्शन में मान्य है। प्रेक्षा ध्यान का मूल आधार है —

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आत्मा का ज्ञान। जैन दर्शन आत्मवादी है, आत्मा को स्वीकार करता है। जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होता, प्रेक्षा का प्रारंभ ही नहीं होता।

जैन दर्शन में कोरा अनित्यवाद मान्य नहीं है, कोरा दुःखवाद मान्य नहीं है और अनात्मवाद सर्वथा ही मान्य नहीं है। इन तीन आधारों से प्रेक्षा और विपश्यना के मूल दार्शनिक आधार की भिन्नता स्पष्ट है।

प्रेक्षाध्यान : प्राणतत्त्व

प्रेक्षाध्यान की पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का पहला बिन्दु है कायोत्सर्ग — शरीर को त्यागना और उसका अन्तिम बिन्दु है कायोत्सर्ग—काया का निरोध, काया का उत्सर्ग। इसका तात्पर्य है भेद-विज्ञान। 'आत्मा अलग है और शरीर अलग है', 'आत्मा अलग है, पुद्गल अलग है', 'मैं आत्मा हूं, मैं शरीर नहीं हूं'—इसकी अनुभूति भेद-विज्ञान है। प्रेक्षाध्यान करने वाले व्यक्ति का लक्ष्य वहां पहुंचना है जहां पहुंचने पर आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाए।

जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष आत्मा के आधार पर चलता है। जैन दर्शन का एक कदम भी आत्मा को छोड़कर आगे नहीं बढ़ता। सारा आचारशास्त्र आत्मा पर आधारित है। एक साधक ने श्वास-प्रेक्षा की, श्वास के प्रकंपनों का पता चला। शरीर-प्रेक्षा की, शरीर के प्रकम्पनों का पता चला किन्तु उसे कम्पनों में ही नहीं अटकना है, अकंप की ओर जाना है। इन प्रकम्पनों के बीच एक अप्रकंप है, जो कभी कंपित नहीं होता, उसका साक्षात्कार करना है। यह बात बौद्ध दर्शन-सम्मत नहीं है क्योंकि उसमें आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नहीं है।

मौलिक अन्तर

बुद्ध ने कहा — दुःख को मिटाओ, दुःख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगड़े में मत पड़ो। बुद्ध ने दुःख को मिटाने का सीधा मार्ग बताया। महावीर का मार्ग कुछ टेढ़ा है। महावीर ने कहा — वर्तमान में जो सामने है, केवल उसी पर मत अटको, मूल तक जाओ। बुद्ध का दर्शन है — अग्र पर ध्यान केन्द्रित करो। महावीर का दर्शन है — केवल अग्र को मत पकड़ो, मूल तक जाओ, आत्मा तक जाओ। जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यह मूलभूत अन्तर है।

विपश्यना पद्धति मन को शांत करने के लिए है, राग-द्वेष को कम करने के लिए है, केवल जानने और देखने के लिए है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में मन को शान्त करने की बात मुख्य नहीं है। केवल ज्ञाता-द्रष्टा होना साधन है, साध्य नहीं है। साध्य है आत्मा का साक्षात्कार, आत्मा को जान लेना। प्रेक्षा और विपश्यना में यह एक मौलिक अन्तर है – प्रेक्षाध्यान के साथ जुड़ा है—आत्म-साक्षात्कार का दर्शन और विपश्यना के साथ जुड़ा है – दुःख को मिटाने का दर्शन।

सन्दर्भ : श्वास प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना में कुछ प्रयोग समान हैं। समानता का एक बिन्दु है श्वास-प्रेक्षा। श्वास का प्रयोग विपश्यना में भी है, प्रेक्षा में भी है किन्तु उसकी प्रयोग-पद्धति में अन्तर है। विपश्यना में बल दिया जाता है सहज श्वास को देखने पर और प्रेक्षाध्यान में बल दिया जाता है दीर्घ श्वास प्रेक्षा पर। विपश्यना में अप्रयत्न मान्य है। प्रेक्षाध्यान में प्रयत्न को भी मान्य किया गया है। यह निर्देश दिया जाता है—हम प्रयत्नपूर्वक लम्बा श्वास लें और श्वास की प्रेक्षा करें। इस दृष्टि से आनापानसती और श्वास प्रेक्षा की स्थूल अर्थ में ही तुलना हो सकती है। एक ओर सहज श्वास का प्रयोग है तो दूसरी ओर प्रयत्नकृत दीर्घ श्वास का प्रयोग।

विपश्यना में कहा जाता है – आयास मत करो, जो अनायास, सहज चल रहा है, उसकी विपश्यना करो, उसे देखो। प्रेक्षा में आयास वर्जित नहीं है। प्रयत्न से श्वास को लंबाना हमारी दृष्टि में ज्यादा उपयोगी है। दीर्घ श्वास से अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक लाभ होते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से लम्बा श्वास लेना (Long Breathing) बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ है।

श्वास-संयम : समवृत्ति श्वास प्रेक्षा

दूसरा अन्तर है – श्वास-संयम का। विपश्यना में कुंभक का प्रयोग मान्य नहीं है। प्रेक्षाध्यान में कुम्भक का प्रयोग भी करवाया जाता है। प्रेक्षाध्यान में लयबद्ध श्वास को भी बहुत महत्त्व दिया जाता है। श्वास को लयबद्ध करने की एक प्रक्रिया है—पांच सैकेंड़ में श्वास लेना, पांच सैकेंड

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भीतर रोकना, पांच सैकेंड में बाहर निकालना और पांच सैकेंड बाहर रोकना — इस प्रकार बार-बार श्वास की आवृत्ति करना लयबद्ध श्वास है।

प्रेक्षाध्यान में समवृत्ति श्वास प्रेक्षा का जो प्रयोग कराया जाता है, वह विपश्यना में नहीं है। समवृत्ति श्वास प्रेक्षा की पद्धति है—दाएं नथुने से श्वास लें, बाएं से निकालें, पुनः बाएं नथुने से श्वास लें, दाएं नथुने से निकालें। चित्त और श्वास—दोनों साथ-साथ चलें, निरन्तर श्वास का अनुभव करें।

चन्द्रभेदी श्वास का प्रयोग, सूर्यभेदी श्वास का प्रयोग, उज्जाई श्वास का प्रयोग—ये सारे प्रयोग प्रेक्षाध्यान को विपश्यना से पृथक् कर देते हैं। प्रेक्षाध्यान में केवल श्वास प्रेक्षा के पचास प्रकार के प्रयोग विकसित हुए हैं, जो सम्मत हैं, ज्ञात और मान्य हैं।

सन्दर्भ : आसन

विपश्यना में आसन का निषेध है, क्योंकि बौद्ध साधना पद्धति में आसन सम्मत नहीं है। भगवान् महावीर ने आसनों को बहुत महत्त्व दिया। डॉ० नथमल टाटिया बौद्ध-दर्शन के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने कहा — महाराज! प्रेक्षाध्यान में आसन का प्रयोग करवाया जाता है। यह हठयोग से लिया गया है। मैंने कहा — डाक्टर साहब! आसन हठयोग से नहीं लिए गए हैं। भगवान् महावीर ने स्वयं अनेक आसनों के प्रयोग किए हैं। महावीर को केवलज्ञान भी एक विशिष्ट आसन में उपलब्ध हुआ। स्थानांग सूत्र में आसनों के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं। तपस्या का एक प्रकार है, काय-क्लेश—आसन का प्रयोग। मैंने विस्तार से इस बात को बतलाया—जैनों में कहां-कहां आसन के संबंध में क्या कुछ लिखा गया है। इस विषय पर चली लम्बी चर्चा के बाद डाक्टर टाटिया ने स्वीकार किया—आसन का प्रयोग किसी से लिया हुआ नहीं है, परम्परा से सहज प्राप्त है। डाक्टर टाटिया ने कहा — बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन की साधना प्रक्रिया में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। बौद्धों में आसन वर्जित रहे हैं और जैन दर्शन में मान्य।

वस्तुतः आसन कोई शरीर परिकर्म नहीं है। आसन साधना की एक

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

पद्धति है। वृत्तियों पर नियन्त्रण कैसे किया जाए? कर्मों की निर्जरा कैसे की जाए? इसका एक उपाय है आसन। इसके साथ-साथ आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है। जो व्यक्ति ध्यान करता है किन्तु आसन नहीं करता, वह कुछ हानियां भी उठाता है। ध्यान से पाचन तंत्र गड़बड़ा जाता है, अग्नि मंद हो जाती है इसलिए ध्यान के साथ आसन का होना अत्यन्त जरूरी है।

संदर्भ : प्राणायाम

विपश्यना में प्राणायाम का कोई स्थान नहीं है पर प्रेक्षाध्यान में प्राणायाम का बड़ा महत्त्व है। प्राणायाम प्राण-नियन्त्रण के लिए बहुत आवश्यक है। जब तक प्राण पर नियन्त्रण नहीं होता तब तक चंचलता पर नियन्त्रण नहीं हो सकता। हठयोग में प्राणायाम को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया है। प्रेक्षाध्यान पद्धति में भी उसका पर्याप्त महत्त्व है। प्रेक्षाध्यान शिविरों में प्राणायाम का प्रयोग भी करवाया जाता है।

सन्दर्भ : मौन

विपश्यना में मौन का प्रयोग काफी कड़ाई से करवाया जाता है। उसमें दस दिन पूर्ण मौन का प्रयोग होता है। प्रेक्षाध्यान में मौन पर इतना बल नहीं दिया जाता। हम उसे अनिवार्य नहीं मानते। हम यह चाहते हैं—प्रेक्षाध्यान शिविर की एक ऐसी सामान्य पद्धति रहे, जिसे शिविर के बाद भी जीवन-भर जिया जा सके। मौन का एक-दो घंटे का प्रयोग सम्यक् रूप से हो सकता है पर निरन्तर दस दिन तक मौन रहना एक सामान्य आदमी के लिए समस्या है। प्रेक्षा शिविरों में यह निर्देश दिया जाता है — अनावश्यक बातचीत न करें, आवश्यकता होने पर ही बोलें। मौन करें तो उसका सही अर्थ में पालन करें। ऐसा न हो कि मौन भी करें और उसमें इतने इशारे, संकेत कर लें, जिससे मौन का भी उपहास हो जाए।

विपश्यना के प्रकार

विपश्यना के कई प्रकार हैं—आनापानसती, काय विपश्यना, धर्मानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि। किन्तु वर्तमान में विपश्यना का जो क्रम चल रहा है, उसमें मुख्य रूप से दो प्रयोग करवाए जाते हैं—आनापानसती—श्वास-प्रश्वास को देखना और काय विपश्यना —

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

शरीर को देखना। जहां तक हमने जाना है, इन दो प्रयोगों के अलावा विपश्यना पद्धति में तीसरा प्रयोग नहीं चल रहा है।

सन्दर्भ : चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

प्रेक्षा और विपश्यना में मूलभूत रेखा खींचने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह प्रयोग भी विपश्यना में नहीं है और शायद इसलिए नहीं है कि उसमें किसी एक स्थान पर टिकना पसंद नहीं किया जाता। उसमें पूरे शरीर को देखते चले जाते हैं, कहीं रुकते नहीं हैं। यदि हम शरीर को देखते चले जाएंगे तो धारणा होगी पर ध्यान नहीं होगा। हम इसे इस भाषा में समझें—बछड़ा आंगन में उत्पात मचा रहा है। उसे पकड़कर एक खूंटे से बांध दिया तो वह ज्यादा कूद-फांद नहीं कर पाएगा। इसका नाम है धारणा। वह बछड़ा आसपास में ही चक्कर लगाएगा जब वह थक जाएगा, तब वहीं बैठ जाएगा। यह है ध्यान। ध्यान का मतलब है-चित्त को एक स्थान पर टिका देना। मन को एक स्थान पर टिकाया और मन लम्बे समय तक उसी विषय पर टिका रहा, मन शान्त हो गया, यही है ध्यान।

ध्यान का अंग है धारणा

हमारे दृष्टिकोण में श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा—दोनों धारणा के प्रकार हैं। ध्यान शुरू होता है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा से। किसी एक चैतन्य केन्द्र पर ध्यान शुरू किया, यह धारणा है। आधा घंटा तक उसी केन्द्र पर चित्त केन्द्रित बना रहा तो वह ध्यान हो गया। जब हम ध्यान करते हैं तब प्रारम्भ में धारणा होती है। एक बिन्दु पर धारणा होते-होते चित्त उस पर एकाग्र बन जाता है, तब ध्यान हो जाता है। यद्यपि ध्यान का ही एक अंग है धारणा। जब धारणा पुष्ट होती है तब वह ध्यान में परिणत हो जाती है। एक सूत्र है — धारणा को बारह से गुणा करो, वह ध्यान बन जाएगा। ध्यान को बारह से गुणा करो, वह समाधि बन जाएगी।

दृष्टान्त की भाषा

पहले हम धारणा करें, एक स्थान पर चित्त को केन्द्रित करें। जैसे-जैसे वह सघन होगी, ध्यान घटित होता चला जाएगा। दृष्टान्त की भाषा है—दूध है, उसमें जामन दिया, उसमें समय लगता है। जामन दिया गया,

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

दूध गाढ़ा बन गया, दही बन गया, यह है ध्यान। दूध है चंचलता, जामन है धारणा और दही है ध्यान। चैतन्य केन्द्र का ध्यान धारणा से प्रारम्भ होता है। हम बीस मिनट, आधा घंटा या उससे अधिक उस पर टिके रहें तो वह ध्यान बन जाएगा।

भेद : प्रथम कारण

यह मान लेना चाहिए—प्रेक्षा और विपश्यना में भेद का आदि-बिन्दु है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। यह भेद का प्रथम कारण है। हम कारण पर विमर्श करें। बौद्ध दर्शन में आत्मा कोई तत्व नहीं है। उसमें आत्मा को देखने की बात नहीं है। जो लोग आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उन्हें विपश्यना से वह प्राप्य नहीं हो सकता। विपश्यना से आत्म-दर्शन की आशा पूरी नहीं होगी। जो आत्म-दर्शन करना चाहते हैं, उनके लिए चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा करना जरूरी है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है—शरीर के जिन-जिन स्थानों पर चेतना सघन रूप में केन्द्रित है, उन-उन स्थानों पर ध्यान करना। यदि हम चैतन्य केन्द्रों पर लंबे समय तक ध्यान करेंगे तो चेतना की अनुभूति जल्दी होगी।

मर्म स्थान : चैतन्य केन्द्र

आयुर्वेद के अनुसार शरीर में बहुत-से ऐसे मर्मस्थान हैं, जहां चोट लगते ही आदमी मर जाए। कण्ठ एक मर्मस्थान है। यदि उस पर गंभीर चोट लगे तो आदमी तत्काल मर जाए। सुश्रुत संहिता में ऐसे सौ से अधिक मर्मस्थान बतलाए गए हैं। इन मर्मस्थानों को चैतन्य केन्द्र कहा जा सकता है। एक्यूपंक्चर और एक्यूप्रेशर की पद्धति में सात सौ बिन्दु (Points) खोज लिए गए हैं। चेतना के ये सारे केन्द्र हमारे शरीर में हैं। यह समुद्र या नदी के पानी की गहराई है। इन केन्द्रों पर ध्यान करेंगे तो चेतना को पकड़ने बहुत मदद मिलेगी। यह चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग उसी दर्शन या व्यक्ति को मान्य हो सकता है, जो स्पष्टतः आत्म-दर्शन की भावना रखता है।

प्रेक्षाध्यान : मौलिक अवदान

प्रेक्षाध्यान पद्धति में अनेक स्वतन्त्र प्रयोग भी विकसित किए गए हैं। लेश्याध्यान, अनिमेष प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

विशेष प्रयोग आदि-आदि प्रेक्षाध्यान के अपने मौलिक अवदान हैं। एक प्रेक्षाध्यान शिविर में अनेक प्रयोग कराए जाते हैं। केवल लेश्याध्यान के पचासों प्रयोग विकसित किए जा चुके हैं। विभिन्न चैतन्य केन्द्रों पर विभिन्न रंगों के साथ प्रेक्षा के जो प्रयोग विकसित हुए हैं, वे किसी भी पद्धति में प्रचलित नहीं हैं, प्राप्त नहीं हैं।

सन्दर्भ : स्वाध्याय और जप

यह एक सचाई है—सब व्यक्तियों की रुचि एक समान नहीं होती, क्षमता एक समान नहीं होती। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं, जो ध्यान को पकड़ ही नहीं पाते। उन्हें प्रारम्भ में जप का प्रयोग करवाया जाता है। जो जप को पकड़ लेता है, वह ध्यान में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। विपश्यना में मंत्र का जप और स्वाध्याय करना निषिद्ध है। प्रेक्षाध्यान में स्वाध्याय का महत्त्व भी स्वीकृत है। आसन-प्राणायाम, जप आदि से साधना का क्रम शुरू होना चाहिए। यह साधना का आदि-चरण है। साधना का अग्रिम चरण है—चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा और लेश्याध्यान।

सन्दर्भः अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का सहवर्ती प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के सारे प्रयोग चिन्तन के प्रयोग हैं। ध्यान में चिंतन का समावेश होना भी जरूरी है। विचय ध्यान की पूरी प्रक्रिया चिन्तनात्मक ध्यान की प्रक्रिया है। जो बदलाव चाहते हैं, उनके लिए अनुप्रेक्षा और संकल्प का प्रयोग करना जरूरी है। पश्चिमी वैज्ञानिक सजेशन और ऑटो-सजेशन के प्रयोग करवाते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में वे प्रयोग काफी सफल हुए हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग सजेस्टोलॉजी के प्रयोग हैं। यह सुझाव के द्वारा आदतों में परिवर्तन लाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। प्रेक्षाध्यान का यह विशिष्ट प्रयोग है।

अपना-अपना दृष्टिकोण

प्रेक्षाध्यान पद्धति का समग्र आकलन करने पर जो निष्कर्ष प्रस्तुत होता है, वह यह है—प्रेक्षाध्यान एक सर्वांगीण और समृद्ध पद्धति है। यह किसी भी पद्धति का अनुकरण नहीं है। कभी-कभी प्रेक्षाध्यान पद्धति की समालोचना करते हुए कहा जाता है—कुछ इधर से ले लिया, कुछ उधर से

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ले लिया और एक विकृत पद्धति का निर्माण कर दिया गया। कुछ लोग यह भी कहते हैं—सब कुछ विपश्यना से ले लिया, केवल नाम बदल कर 'प्रेक्षा' कर दिया। प्रेक्षा में सब-कुछ वही है, जो विपश्यना में है। एक तथाकथित भगवान् ने भी यही कहा—सब-कुछ हमसे लिया, केवल नया नामकरण कर अपने नाम से प्रचारित कर दिया। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।

दृष्टिकोण एकांगी नहीं है

हमारा दृष्टिकोण एकांगी नहीं है। एकांगी दृष्टिकोण से किसी बात को पकड़ा नहीं जा सकता। हमारा दृष्टिकोण रहा—जैसे स्वास्थ्य के लिए सन्तुलित भोजन होना चाहिए वैसे ही साधना के प्रयोगों में भी सन्तुलन होना चाहिए। शरीर, प्राण और मन को साधने वाले प्रयोग तथा चेतना को विकसित करने वाले प्रयोग—दोनों का सन्तुलन होना चाहिए। प्रेक्षाध्यान हमारे इसी दृष्टिकोण की निष्पत्ति है। यह आश्चर्य है कि हम किसी की आलोचना में नहीं जाते फिर भी पता नहीं, कुछ वीतरागता की बात करने वाले साधक प्रेक्षाध्यान की आलोचना में क्यों उलझे हुए हैं?

विकसमान पद्धति

सच तो यह है — श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग बहुत लम्बे समय से चल रहे हैं। गोयनकाजी पहली बार बैंगलोर में मिले थे। उससे पूर्व कई ध्यान शिविर भी आयोजित हो चुके थे। हम विकासशील पद्धति में विश्वास करते हैं। प्रारंभ में हम आसन-प्राणायाम, कायोत्सर्ग, श्वास प्रेक्षा और शरीर प्रेक्षा के प्रयोग करते थे किन्तु किसी पद्धति का विधिवत् रूप से निर्धारण नहीं हो पाया था। जयपुर में इस पद्धति का नामकरण 'प्रेक्षाध्यान' किया गया। उसके बाद इसमें चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग जुड़ा। कालान्तर में लेश्याध्यान के प्रयोग आविष्कृत हुए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग भी बाद में निर्धारित किए गए। बौद्धों में अनुप्रेक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है। बौद्ध दर्शन में दस अनुस्मृतियां हैं पर उसमें बारह अनुप्रेक्षाएं व्यवस्थित नहीं हैं। इस प्रकार प्रेक्षाध्यान के सारे प्रयोग स्वतंत्र बन जाते हैं। उनका विकास भी स्वतंत्र ही हुआ है। विकास के अनके चरणों को स्पर्श करते हुए प्रेक्षाध्यान सर्वांगीण पद्धति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है और आज भी वह विकसमान बनी हुई है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रेक्षाध्यान और निर्विचार ध्यान

इस शताब्दी में ध्यान पर विचार करने वाले अनेक मनीषी हुए हैं। अनेक प्रकार के ध्यान विकसित हुए हैं। उन सबमें किसी को गंभीर और एक स्थितप्रज्ञ जैसा कहा जा सके तो श्री कृष्णमूर्ति का नाम लिया जा सकता है। कृष्णमूर्ति ने इस विषय को जितनी गहराई से पकड़ा है, उतनी गहराई तक बहुत कम लोग पहुंचे हैं। ध्यान पद्धतियों के कुछ संस्कर्ता एक प्रकार से प्रचार-प्रसार में रस लेने वाले और राजनीति के परिपार्श्व में परिक्रमा करने वाले लोग रहे हैं। कृष्णमूर्ति ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने गहराई का स्पर्श किया है, भीतर गहरे में पैठ की है।

कृष्णमूर्ति का मंतव्य

श्री कृष्णमूर्ति का मानना था— मन सब जगह व्याप्त है। जहां-जहां मन की व्याप्ति है वहां न ध्यान हो सकता है, न धर्म हो सकता है। मन आत्मा के बारे में सोच रहा है, ईश्वर के बारे में सोच रहा है या शराब के बारे में सोच रहा है। श्री कृष्णमूर्ति की दृष्टि में इसमें कोई फर्क नहीं है। जहां मन का खेल है, वहां कुछ भी हो सकता है। जहां मन से परे चले जाएं, मन का खेल खेलना बन्द कर दें, वहां सत्य उपलब्ध होगा, सत्य की अनुभूति होगी और वह वास्तविक होगी।

अतीत, वर्तमान और भविष्य — सारा मन का खेल है। हम कालातीत हुए बिना मन के खेलों से परे नहीं जा सकते। जब तक काल से बंधे रहेंगे, तब तक मन के खेल खेलते रहेंगे। अतीत की स्मृति मन का खेल है। वर्तमान का चिन्तन और भविष्य की कल्पना— सब कुछ मन का खेल ही खेला जा रहा है। मन से परे होने, मनोतीत अवस्था में जाने का अर्थ है कालातीत अवस्था में जाना। जहां मन समाप्त होता है वहां कोई काल नहीं है। मन नहीं है तो स्मृति नहीं होगी। अतीत से संबंध छूट जाएगा। मन नहीं है तो चिन्तन भी नहीं होगा। हम वर्तमान की पकड़ से

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

मुक्त हो जाएंगे। मन नहीं है तो भविष्य की कल्पना भी नहीं होगी। हम भविष्य की कारा में बंदी नहीं रहेंगे।

ध्यान की पराकाष्ठा

यह एक दृष्टिकोण है। इसमें काफी गहरे जाने का यत्न किया गया है। यह आत्मा की स्थिति है, इसमें कोई संदेह नहीं है। जब व्यक्ति आत्मानुभूति के क्षण में चला जाता है, आत्मा तक चला जाता है, तब न चिन्तन रहता है, न स्मृति और न कल्पना होती है। जो व्यक्ति वीतरागी या ज्ञानी बन गया, वह कभी स्मृति, कल्पना और चिन्तन नहीं करता। यह स्थिति साक्षात्कार की है। जहां दर्शन या साक्षात्कार हो जाए, सत्य के साथ सीधा सम्पर्क हो जाए, वहां तीनों काल समाप्त हो जाते हैं। केवली के लिए अतीत और भविष्य क्या होगा? कैवल्य कालातीत स्थिति की उपलब्धि है।

विचार की भूमिका

निःसंदेह यह ध्यान की पराकाष्ठा की स्थिति है। हम इस पर प्रेक्षा ध्यान की दृष्टि से विचार करें। हम अनेकान्त की दृष्टि से विचार करते हैं इसलिए किसी पक्ष को गलत नहीं कह सकते किन्तु उसे एक पक्ष ही मान सकते हैं। ध्यान का एक पहलू यह हो सकता है, किन्तु उसका दूसरा पहलू नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता। साक्षात्कार की भूमिका में व्यक्ति सीधा चला जाए, यह सबके लिए संभव नहीं है। शक्ति और क्षयोपशम का तारतम्य इतना है कि विचार की भूमिका भी एक नहीं बन पाती। कृष्णमूर्ति ने सब-कुछ विचार की भूमिका से देखा। हम भावना की भूमिका को भी छोड़ नहीं सकते। विचार को पैदा कौन करता है? विचार अपने आप पैदा नहीं होता। भाव और मन – दोनों जुड़े हुए हैं। भाव प्रभावित होगा तो मन प्रभावित हो जाएगा।

भाव और मन

इसमें कोई संदेह नहीं है कि जो मन एक क्षण पहले अच्छा सोचता है, वह दूसरे क्षण में बुरा भी सोचने लग जाता है। इस स्थिति में मन का अस्तित्व कहां रहा? हवा बहती है। यदि हम कहें– हवा ठण्डी है तो सापेक्ष सत्य होगा। थोड़ी-सी गर्मी आएगी, हवा गर्म हो जाएमी। यदि

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हम कहें— हवा गर्म है तो यह भी सापेक्ष-सत्य होगा। हवा फिर ठण्डी हो जाती है। हर मौसम के साथ हवा का रूप बदलता रहता है। वह कभी गर्म हो जाती है, कभी ठण्डी हो जाती है। गर्मी होती है तो व्यक्ति ऊनी वस्त्र भीतर रख देता है। सर्दी अधिक होती है तो ऊनी वस्त्र बाहर निकाल लेता है। हवा अपने आप में न ठण्डी है और न गर्म। मन की भी यही बात है। मन न अपने आप में अच्छा सोचता है, न बुरा सोचता है। जैसा भाव जागृत होता है, मन की क्रिया वैसी ही बन जाती है। अच्छे भाव का प्रवाह आता है तो मन अच्छा सोचने लग जाता है। बुरे भाव का प्रवाह आता है तो मन बुरा सोचने लग जाता है। हम केवल मन को न पकड़ें, विचार को न पकड़ें। मन और विचार का स्तर सतही है। अन्तर का जो स्तर है, वह कुछ और है।

अमन की भूमिका

श्री कृष्णमूर्ति ने भी मन को दो भागों में विभक्त किया है। एक है बाहरी मन, दूसरा है छिपा हुआ मन। जब तक हम बाहरी मन को पकड़ेंगे तब तक कुछ नहीं होगा। जब छिपा हुआ मन पकड़ में आ जाएगा तब हम भावना के स्तर पर पहुंच जाएंगे। इस स्थिति में पहुंचने पर ही प्रेक्षा की बात समझ में आ सकती है।

प्रेक्षाध्यान में निर्विचार ध्यान सर्वथा सम्मत है। हमारा लक्ष्य है— निर्विचार को उपलब्ध होना, मन से अमन की भूमिका में चले जाना। अमन शब्द प्रेक्षाध्यान में बहुत व्यवहृत हुआ है। यह आगम-सम्मत शब्द है। जैन आगम स्थानांग सूत्र में दो स्थितियां बतलाई गई हैं— एक है मन की स्थिति और दूसरी है अमन की स्थिति। मन कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। बुद्धि हमारा स्थायी तत्त्व है। जब-जब हम मन की भूमिका में चलते हैं तब दोनों प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। अच्छा विचार भी आ सकता है, बुरा विचार भी आ सकता है। जब हम अमन की भूमिका में चले जाते हैं तब आत्मा की सन्निधि में चले जाते हैं। वहां पूर्ण अप्रमाद और एकाग्रता की स्थिति बनती है।

निर्विकल्प चेतना और प्रेक्षा

विचार से निर्विचार की स्थिति तक पहुंचने का एक क्रम होता है। हम.

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

एक साथ विचार से निर्विचार में कैसे चले जाएंगे? किसी व्यक्ति में यह शक्ति हो सकती है कि वह ध्यान में बैठे और विचार समाप्त हो जाए। सबके लिए यह संभव नहीं है। समाधान यही है— जब भी हमारे मन में बुरा विचार आए, हम अच्छे विकल्प की ओर अपना ध्यान मोड़ दें, कुछ ही देर में बुरा विकल्प समाप्त हो जाएगा। हम बुरे विकल्प को अच्छे विकल्प में बदल दें लेकिन यह ध्यान निरंन्तर बना रहे— विकल्प से निर्विकल्प स्थिति तक पहुंचना है। जब तक देखने का अभ्यास नहीं होता, विचार-मुक्त स्थिति का निर्माण संभव नहीं बनता।

देखना और सोचना— दो तत्त्व हैं। हम मनस्वी हैं। इसलिए सोचना जानते हैं पर देखना नहीं जानते। प्रेक्षाध्यान का मतलब है देखना। जब देखेंगे तब साक्षात्कार होगा। जब सोचेंगे तब बौद्धिक तर्क पैदा होंगे। जहां वस्तु के साथ सीधा सम्पर्क होता है, वहां देखना होता है। जितने झगड़े हैं, विचारों के झगड़े हैं। साक्षात्कार में कोई झगड़ा नहीं है। विवादों की मूल जड़ है सोचना-विचारना।

प्रेक्षाध्यान : निर्विचार ध्यान

इस सारे परिप्रेक्ष्य में विचार करने पर जो निष्कर्ष आता है, वह यही है— मन के खेलों से परे चले जाना ही ध्यान है। जब हम आत्मा के सन्निकट चले जाते हैं, मन की भूमिका समाप्त हो जाती है। जब तक हम मन की भूमिका पर जिएंगे तब तक लाभ में खुशी और अलाभ में शोक उत्पन्न होता रहेगा। यह स्थिति तब समाप्त होती है जब हम मन से अमन की भूमिका में चले जाते हैं। यह सचाई है— जितने प्रभाव होते हैं, सारे मन पर होते हैं। मुद्गशैल पाषाण पर कोई प्रभाव नहीं होता। जो अप्रभावित अवस्था है, वह अमन की अवस्था है। इस अवस्था को उपलब्ध होने का श्री कृष्णमूर्ति ने जो दर्शन प्रस्तुत किया है, वह प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। समान लक्ष्य की ओर ले जाने वाली इन दोनों पद्धतियों का प्रायोगिक क्रम एक नहीं है। इतना अन्तर होते हुए भी लक्ष्य की अवधारणा में जो साम्य है, वह प्रत्येक व्यक्ति को ध्यान के क्षेत्र में विशिष्ट एवं अलौकिक उपलब्धि के लिए उत्प्रेरित करता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान

मूल्य है उपयोगिता का

हमारी दुनिया में जितने भी उपयोगी साधन हैं, उनकी संख्या में वृद्धि हुई है। यह नियम है—जो भी अच्छी चीज हुई, उसकी संख्या में वृद्धि होती चली गई। यह आज से नहीं, आदिकाल से चला आ रहा नियम है। अनाज भी कई प्रकार के बढ़े हैं, फल भी कई प्रकार के बढ़े हैं, कपड़े भी कई प्रकार के बनते जा रहे हैं। लक्ष्य एक है—भूख मिट जाए, सर्दी-गर्मी से बचाव हो जाए। लक्ष्य एक होने पर भी प्रकार अलग-अलग बन जाते हैं और उनके अलग-अलग निर्माता-संस्कर्ता हो जाते हैं। ध्यान भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। जिस दिन मनुष्य ने ध्यान करना सीखा, उसे कुछ मिला। उससे महसूस हुआ—ध्यान उपयोगी है, मूल्यवान् है। जब मूल्य होता है तो उसके साथ उसकी अर्थवत्ता भी बढ़ जाती है। जब कभी ध्यान का प्रचलन हुआ तब उसकी एक ही शाखा रही होगी। धीरे-धीरे उसकी अनेक शाखाएं चल पड़ीं। आज सैकड़ों-सैकड़ों ध्यान की पद्धतियां चल रही हैं।

भावातीत ध्यान

ध्यान की एक शाखा है भावातीत ध्यान। संक्षेप में इसे टी.एम. कहा जाता है। इसके संस्कर्ता महर्षि महेश योगी हैं। वे अमेरिका आदि अनेक देशों में रहे हैं और इसका बहुत प्रचार किया है। प्रचार के साथ एक विशेष बात यह की—इस ध्यान पद्धति को वैज्ञानिक परीक्षण में लगा दिया। वैज्ञानिक परीक्षणों के परिणाम भी आए। काफी साहित्य भी लिखा गया।

हम प्रेक्षाध्यान और भावातीत ध्यान – इन दोनों पद्धतियों को तुलनात्मक दृष्टि से देखें। भावातीत ध्यान का वैज्ञानिक साहित्य तो बहुत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है किन्तु इसके मूल स्वरूप को बताने वाला साहित्य बहुत कम है। इसके प्रशिक्षकों की संख्या काफी है। अनेक भावातीत ध्यान के प्रशिक्षक प्रेक्षाध्यान के शिविरों में भी महीनों तक रहे हैं। उनसे बात करने पर पता चला—भावातीत ध्यान में एक मंत्र का प्रयोग कराया जाता है। यह बीस मिनट का प्रयोग होता है। मन्त्र की एक निश्चित विधि है। उसका जप करते-करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है, भावना से अतीत होकर गहरी एकाग्रता में चला जाता है। भावातीत ध्यान के संदर्भ में इसके अतिरिक्त कुछ भी जानने को नहीं मिला।

कठिन है शून्य को जानना

मन्त्र जप के प्रयोग का नाम रखा गया है भावातीत ध्यान। भावातीत को निर्विकल्प ध्यान भी कहा जा सकता है। प्रश्न हो सकता है—क्या जप द्वारा यह संभव है? जप केवल उच्चारण ही नहीं है। जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते हैं तो उसे विराम देने की जरूरत होती है। हम उच्चारण से जप शुरू करें और उसे विराम देते चले जाएं। इस स्थिति में हो सकता है—एक नमस्कार मन्त्र गिनने में एक मिनट लग जाए, दो मिनट लग जाए। जितना विराम देंगे, अन्तराल बढ़ता चला जायेगा। सबसे महत्त्वपूर्ण होता है शून्य रहना। खाली रहने वाली बात समझ में आए तब जप ठीक होता है। भरे हुए को जानना कठिन नहीं है। कठिन है शून्य को जानना। हम श्वास को भी देखते हैं। श्वास भीतर गया, वह बाहर आने वाला है। श्वास आने और जाने के बीच के अन्तराल को (शून्य को) पकड़ें। यह मर्म की बात है।

भावातीत चेतना : समाधि

ध्यान के हर क्षण में शून्य को पकड़ना बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक क्रिया विश्राम लेती है। उस विश्राम के क्षण को पकड़ना महत्त्व की बात होती है। ध्यान और जप के सन्दर्भ में भी यही बात है। जप का महत्त्वपूर्ण क्षण होता है खाली रहना। हम जितना अन्तराल देना सीखेंगे उतना ही भावातीत ध्यान सधता चला जायेगा। व्यक्ति भावातीत बनता है अन्तराल के कारण। जैसे-जैसे जप आगे बढ़ेगा, अन्तराल आगे बढ़ता चला जाएगा। एक बार मन्त्र जपा और पांच सैकण्ड बिल्कुल निर्विकल्प

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

रहें। यह अवस्था बढ़ती चली जाए, जप भावातीत हो जाएगा। एक समय ऐसी स्थिति आती है—शब्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है। यही है भावातीत ध्यान। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। पहले शब्द और विचार का आलंबन लिया जाता है, वह निर्विचार में बदल जाता है, शब्द और विचार छूट जाते हैं, केवल तन्मात्र रह जाता है, अर्थ की अनुभूति रह जाती है। हम प्रेक्षाध्यान में अर्हं का जप करवाते हैं। जप करते-करते 'अर्हं' शब्द छूट जाता है, 'अर्हं' का अर्थमात्र रह जाता है, व्यक्ति समाधि में चला जाता है। यही भावातीत ध्यान है, हमारी भावातीत चेतना है।

जप का महत्त्व

प्रेक्षाध्यान में जप सम्मत है, अस्वीकृत नहीं है। एकाग्रता के लिए जप का प्रयोग बहुत जरूरी होता है। जप और भावना—दो नहीं हैं। इसे तन्मयध्यान भी कहा जा सकता है—साध्यमय हो जाना, साधक और साध्य का भेद न रहना। यह गुण-संक्रमण का सिद्धान्त है—ध्येय को अपने आप में संक्रान्त कर देना। अगर हम गरुड़ का ध्यान करें तो स्वयं में गरुड़ की अनुभूति करें। जिसका ध्यान करें, अपने आपमें उस स्थिति का अनुभव करना, तन्मय ध्यान, तद्रूप ध्यान, समापत्ति या भावना है। ये भावना के प्रयोग हैं। 'तद् जपः तदर्थभावनम्'। अर्हं का जप करते समय अर्हंमय हो जाना, यह भावना है और यही जप है। इसमें वह क्षण भी आ सकता है कि अपरिमित आनन्द आने लग जाए, शक्ति अपरिमित जाग जाए और हमारा परिणमन वैसा होने लग जाए।

शब्द की शक्ति

प्रेक्षाध्यान में जप का यह प्रयोग भी कराया जाता है। शब्द और अशब्द— ये दोनों पद्धतियां जिस ध्यान में नहीं होतीं, हमारी दृष्टि में ध्यान की वह पद्धति पूर्ण नहीं है। शब्द हमारा बहुत विकास करने वाला है। शब्द के अभाव में विकास रुक जायेगा। शब्द या सुरता एक ही बात है। कबीर ने सुरता का बहुत प्रयोग किया है। मन्त्र निर्माता जानता है कि किन शब्दों का गठन होना चाहिए? मन्त्र में शब्द का अर्थ गौण होता है, केवल शब्द की शक्ति होती है। गठन का आधार रहता है, प्रकंपन।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अमुक-अमुक शब्द मिलकर किस प्रकार का प्रकंपन पैदा करेंगे, इस आधार पर शब्द संरचना संगठित होती है। सारी ध्वनि-चिकित्सा प्रकंपनों के आधार पर चलती है। प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में भी ध्वनि-चिकित्सा के बहुत से प्रयोग किए गए हैं। जहां हजार दवाइयां काम नहीं करतीं वहां एक शब्द काम कर जाता है।

भावातीत ध्यान : अनुप्रेक्षा

शब्दों का गठन, प्रकंपन और भावना—तीन का योग बनता है और जप शुरू हो जाता है, व्यक्ति भावातीत स्थिति में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान में जप अनुप्रेक्षा के साथ चलता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक प्रकार है। स्वाध्याय ध्यान का आदि सोपान है। ध्यान और अनुप्रेक्षा का योग है। प्रेक्षा में जो सचाइयां मिलती हैं, उनको जीवनगत बनाना है तो आवृत्तियां करनी होंगी। आवृत्ति करते रहने से मन पर उसका संस्कार होना शुरू हो जाएगा। शब्द की महिमा का प्रभाव हमारे भीतर तक पैठा हुआ है। हम सारे अर्थों को शब्द के माध्यम से ही जान रहे हैं। इसलिए शब्द- शक्ति से जुड़े प्रयोग महत्वपूर्ण बन जाते हैं। मन्त्र जप की साधना के सन्दर्भ में प्रेक्षाध्यान की एक पद्धति अनुप्रेक्षा और भावातीत ध्यान – दोनों की एक दृष्टि से तुलना कर सकते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी

हिंसा और अहिंसा शब्द कब सामने आए? यह इतिहास की खोज का विषय है। हिंसा और अहिंसा की प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही चली आ रही है। दो परंपराएं बन गईं—हिंसा की परंपरा और अहिंसा की परम्परा। समाज में कुछ लोग ऐसे हुए हैं, जिन्होंने हिंसा का भी समर्थन किया है। युद्ध और शस्त्रों के बारे में बहुत विशद विवेचन किया गया है और उनके उपाय भी सुझाये गए हैं। दूसरी ओर ऐसे भी लोग हुए हैं, जिन्होंने युद्ध-वर्जन, निःशस्त्रीकरण एवं हिंसा के विरोध के लिए अतिसूक्ष्म चिंतन प्रस्तुत किया है।

अहिंसा के विचारक

अहिंसा का सिद्धान्त बौद्धिकता पर नहीं, अन्तर्दृष्टि पर आधारित है। अन्तर्दृष्टि जागे बिना अहिंसा की बात भी समझ में नहीं आ सकती, उसका विकास भी संभव नहीं है। यह सारा इन्द्रिय चेतना से परे का विषय है।

अहिंसा की परंपरा में अनेक बड़े-बड़े साधक और महात्मा हुए हैं। इन दो शताब्दियों में अहिंसा के दो विशिष्ट विचारक, चिन्तक, या तत्त्ववेत्ता हुए हैं। एक हैं आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं महात्मा गांधी। आचार्य भिक्षु राजस्थान में जन्में और महात्मा गांधी गुजरात में। आचार्य भिक्षु जैन धर्म के संस्कारों में पले-पुषे और महात्मा गांधी वैष्णव धर्म के संस्कारों में। आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी दोनों ही वैश्य थे। दोनों की बुद्धि और पहुंच बहुत तीव्र थी। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा के बारे में जितना लिखा, उतना शायद एक हज़ार वर्षों में भी किसी ने नहीं लिखा होगा। दूसरी ओर गांधी ने भी जितना अहिंसा पर काम किया, उतना आचार्य भिक्षु को छोड़कर शायद और किसी ने नहीं किया होगा। दोनों के कार्य-क्षेत्र भिन्न हो सकते हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हरिभाऊ उपाध्याय का मत

हरिभाऊ उपाध्याय ने एक पुस्तक की समीक्षा में लिखा – "आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के संदर्भ में भूमिका-भेद को निकाल दें तो दोनों एक बिन्दु पर आ जाते हैं। भूमिका-भेद का अर्थ है – महात्मा गांधी राजनीति के क्षेत्र में काम कर रहे थे और साथ में अहिंसा की नीति को अपनाए हुए थे। अहिंसा उनके लिए एक नीति नहीं, एक धर्म था। गांधीजी ने लिखा है–अहिंसा कांग्रेस के लिए एक नीति हो सकती है पर मेरे लिए वह एक धर्म है। आचार्य भिक्षु का क्षेत्र कोरा अध्यात्म का क्षेत्र था इसलिए उनके समक्ष अहिंसा धर्म ही था, यह निर्विवाद है।

साधन-शुद्धि का प्रश्न

आज मार्क्सवाद ने अहिंसा के संदर्भ में एक बहुत बड़ा प्रश्न उभारा है। मार्क्स ने कहा – साध्य को पाने के लिए अगर अच्छा साधन मिलता हो तो ऐसा साधन अपनाया जाए किन्तु अगर अच्छे साधन से साध्य न मिलता हो तो जैसे-तैसे अशुद्ध साधन से भी साध्य को पा लेना चाहिए। अगर हमें शोषण को मिटाना है तो मजदूरों का शासन स्थापित करना होगा और यदि वह सीधी तरह से उपलब्ध न हो तो उसे हिंसा के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। राजनीति के क्षेत्र में भी एक प्रश्न खड़ा हो गया–साधन की शुद्धि और अशुद्धि का। गांधी का आग्रह था–साध्य और साधन – दोनों शुद्ध होने चाहिए। साम्यवाद का अभिमत बन गया–साधन अशुद्ध हो तो भी चल सकता है। यह साध्य और साधन की चर्चा इस शताब्दी में बहुत लंबी चली। इसका यदि मूल स्रोत खोजें तो वह आचार्य भिक्षु के दर्शन में मिलता है।

हृदय परिवर्तन और अहिंसा

साधन-शुद्धि के इस प्रश्न को सबसे पहले आचार्य भिक्षु ने उठाया। उन्होंने कहा–शुद्ध साधन के बिना अहिंसा कभी नहीं हो सकती। साध्य अच्छा हो तो साधन भी शुद्ध होना चाहिए। बल-प्रयोग से अहिंसा नहीं हो सकती। हृदय परिवर्तन के बिना अहिंसा नहीं हो सकती। प्रलोभन और बल-प्रयोग–ये दोनों हिंसा को मिटा सकते हैं पर अहिंसा को नहीं ला सकते। अहिंसा के लिए एक मात्र साधन है हृदय परिवर्तन। जो व्यक्ति

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हिंसा कर रहा है, उसका मानस बदल जाए तभी अहिंसा संभव है। आचार्य भिक्षु ने साध्य और साधन की शुद्धि के संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे—आचार की चौपई, अनुकंपा की चौपई आदि। इन ग्रंथों में आचार्य भिक्षु ने साधन-शुद्धि की गंभीर और सूक्ष्म चर्चा की है। उन्होंने लिखा — अशुद्ध साधनों से कभी भी शुद्ध साध्य को नहीं पाया जा सकता। यदि साधन अशुद्ध है तो साध्य भी अशुद्ध हो जाएगा। यदि इस परिप्रेक्ष्य में से हम आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी को निकाल दें तो मार्क्सवाद के सामने टिकने वाली इतनी स्पष्ट चर्चा शायद कहीं नहीं मिलेगी। इस कोण से देखें तो आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी एक बिन्दु पर आ जाते हैं।

हिंसा हिंसा है

गांधी के सामने एक प्रश्न आया— किसान बन्दरों को खेती से भगाते हैं और कभी मार डालते हैं। आप उसे क्या कहेंगे? अगर न भगाएं तो खेती का नुकसान होता है। गांधी ने कहा — बन्दरों को भगाना या मारना अनिवार्य हिंसा मानकर क्षम्य भले ही माना जाये पर वह अहिंसा तीन काल में भी नहीं हो सकती। गांधीजी ने स्पष्ट कहा — तीन काल में हिंसा हिंसा ही रहेगी। हम उसे इस आधार पर क्षम्य भले ही मान लें कि इसके बिना समाज का काम नहीं चल सकता। आचार्य भिक्षु ने यही स्वर सामने रखा था पर उसका काफी विरोधी हुआ। आचार्य भिक्षु ने कहा — अनिवार्य हिंसा भी हिंसा है। चाहे युद्ध करना पड़े, जीवन को चलाने के लिए हिंसा करनी पड़े, खेती को बचाने के लिए हिंसा करनी पड़े। अपरिहार्य कोटि की जितनी हिंसा है, वह सारी की सारी हिंसा ही है, उसे अहिंसा कभी नहीं कहा जा सकता।

समान चिन्तन

महात्मा गांधी और आचार्य भिक्षु दोनों के चिन्तन और शब्दावली में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा लगता है — आचार्य भिक्षु की शब्दावली का प्रयोग गांधी ने किया और गांधी की शब्दावली का प्रयोग आचार्य भिक्षु ने किया। वस्तुतः जो बात प्रज्ञा में से निकलेगी, उसमें मतद्वैत नहीं होगा। बौद्धिकता में मतद्वैत होता है। जहां मत है वहां द्वैत भी होगा किन्तु जहां मत नहीं, सत्य है वहां कभी भी दो विचार हो नहीं सकते। मत और सत्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

में यही अन्तर है। मत होता है माना हुआ और सत्य होता है जाना हुआ। अनुभव के क्षेत्र में कभी द्वैत नहीं रहता।

प्रश्न धर्म की कसौटी का

गांधीजी ने सत्याग्रह, स्वावलंबन और व्रत–इन तीनों पर बहुत बल दिया। आचार्य भिक्षु के सामने व्रत के सिवाय कुछ नहीं था। उनके सामने धर्म की कसौटी थी–संयम, व्रत। आचार्य भिक्षु की भाषा है – जहां-जहां व्रत, वहां-वहां धर्म, जहां-जहां अव्रत वहां-वहां अधर्म। गांधीजी ने जो कसौटी प्रस्तुत की, वह इस कसौटी से कुछ भिन्न है। गांधीजी ने दो कसौटियां अपनाई–संयम और सुखवाद। जिससे समाज को सुख मिले, वह भी धर्म है इसीलिए उन्होंने सुखवादी धारणा को भी मूल्य दिया। बछड़ा तड़प रहा था। गांधीजी ने कह दिया – गोली मार दो। बेचारा दु:ख पा रहा है, इसके दु:ख को मिटा दो। यह सुखवादी दृष्टिकोण भी बराबर काम करता रहा है, इसीलिए सामाजिक कार्यों को धर्म के साथ जोड़ने में गांधी का जो योग रहा है, उसका कारण यह सुखवादी दृष्टिकोण रहा।

कोई किसी को न मारे

मैंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी – 'अहिंसा'। वह पुस्तक गांधीजी के पास पहुंची। उस पर गांधीजी ने अपने हाथ से कुछ टिप्पणियां लिखीं। गांधीजी ने लिखा – आचार्य भिक्षु कौन हैं? अहिंसा की ऐसी व्याख्या मैंने आज तक कभी नहीं पढ़ी। उस पुस्तक पर ऐसी पांच-सात टिप्पणियां थीं। पढ़कर ऐसा लगा – अहिंसा के प्रति वे बहुत जिज्ञासु थे। जब सर्वोदय कार्यकर्ता मिश्रीमलजी सुराणा गांधीजी से मिले तब उन्होंने गांधीजी से आचार्य भिक्षु के सिद्धान्तों की चर्चा की। महादेवभाई देसाई और गांधीजी से हुई वह चर्चा बड़ी मार्मिक चर्चा है। प्रश्न आया – मांकण (खटमल) या बन्दर को मारने का प्रश्न आए, तो क्या करें? गांधीजी ने कहा – यदि ऐसा प्रसंग आया तो मैं अपने आपको इन दोनों से बचा लूंगा। मैं चाहूंगा कि कोई किसी को न मारे। आचार्य भिक्षु ने भी यही कहा – 'रांका नै मार धींगा नै पोखे' – बड़े-बड़े लोगों को पोखने के लिए गरीबों को सताया जा रहा है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

अल्प हिंसा या हिंसा का अल्पीकरण

जो व्यक्ति अहिंसा पर विचारेगा, चिन्तन करेगा, लिखेगा, वह आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी पर पहले सोचेगा, चिन्तन करेगा। अहिंसा के संदर्भ में इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करना जरूरी है। तेरापंथ में इस विषय पर काफी अध्ययन हुआ है। आचार्य भिक्षु के सामने प्रमुख सिद्धान्त था– अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा का। समाज में रहने वाला प्राणी पूर्ण अहिंसा को नहीं अपना सकता पर उसे हिंसा का अल्पीकरण अवश्य करना चाहिए, परिग्रह और इच्छा का अल्पीकरण करना चाहिए। सर्वोदय के संदर्भ में एक प्रश्न आया। हमने आचार्य भिक्षु के सिद्धान्त के आधार पर लिखा–यह शब्द रचना ठीक नहीं है कि अल्प हिंसा वाला समाज अच्छा है। इसको इस प्रकार बदल दिया जाना चाहिए–समाज में हिंसा का अल्पीकरण अच्छा है। अल्प हिंसा, इस शब्द रचना में हिंसा का समर्थन है, 'हिंसा का अल्पीकरण' इस शब्दरचना में अहिंसा का समर्थन है। हिंसा का अल्पीकरण करना अहिंसा की दिशा में प्रस्थान है।

समस्या है केन्द्रीकरण

गांधीजी ने जो नीति अपनाई, वह तीन बातों पर आधारित थी– विकेन्द्रित सत्ता, विकेन्द्रित अर्थनीति और विकेन्द्रित उद्योग। जहां सत्ता, अर्थ और उद्योगों का केन्द्रीकरण बढ़ता है वहां शोषण और अहिंसा को बढ़ावा मिलता है। यदि यह विकेन्द्रित अर्थनीति का सिद्धान्त आज देश में लागू होता तो गांव के लोग इतने पिछड़े और गरीब नहीं रहते। एक ओर तीन शब्द हैं– अल्प आरंभ, अल्प परिग्रह और अल्प इच्छा। दूसरी ओर तीन शब्द हैं– विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता और विकेन्द्रित उद्योग। हम इन दोनों शब्दों की अर्थ मीमांसा करें तो कहा जाएगा– ये दोनों अहिंसा की दिशा में प्रस्थान के पथ हैं। पर कहना यह चाहिए– हिन्दुस्तान के लोगों ने न अचार्य भिक्षु को समझने का प्रयत्न किया, न महात्मा गांधी को समझने का प्रयत्न किया। इन्द्रिय चेतना और भोगवादी संस्कृति में पलने वाला आदमी इस बात को समझने का प्रयत्न करे, यह संभव भी नहीं लगता। यह अनिवार्यता कभी-कभी आती है। जब कभी

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हिंसा तीव्र हो जाती है, तब व्यक्ति बाध्य होकर कभी-कभी अहिंसा के बारे में सोचता है। सहजतया आदमी इस संदर्भ में सोच ही नहीं पाता।

व्यक्तित्व निर्माण का प्रश्न

हम आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी के संदर्भ में एक व्यावहारिक पहलू पर भी विमर्श करें। आचार्य भिक्षु व्यक्तित्व निर्माण में बहुत सजग थे। व्यक्तित्व का निर्माण वही कर सकता है, जो छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देता है। हम महात्मा गांधी को देखें। एक ओर राजनीति के संचालन का दायित्व, आजादी के आन्दोलन को संचालित करने का दायित्व, दूसरी ओर सारा ध्यान केन्द्रित था सेवाग्राम और साबरमती पर। आश्रम में रहने वाले लोगों का जीवन कैसे चल रहा है? उनका चरित्र कैसा है? चरखा कैसे कातते हैं? जीवन-चर्या कैसी है? वे एक ओर राजनीति का नेतृत्व कर रहे थे तो दूसरी ओर नए व्यक्तित्व तैयार कर रहे थे, नए व्यक्तियों का निर्माण कर रहे थे।

ध्यान दें छोटी बातों पर

आचार्य भिक्षु के परम शिष्य मुनिश्री हेमराजजी गोचरी गए, भिक्षा में दाल लेकर आए। आचार्य भिक्षु ने देखा, पात्र में उड़द, मूंग, चना आदि की दालें मिली हुई हैं। आचार्यश्री ने कहा— सब दालें मिलाकर क्यों लाए? मुनि हेमराजजी ने कहा- यह तो मिलता मेल है, पंचमिसाली दाल होती ही है। आचार्य भिक्षु ने कड़ा उलाहना दिया— कोई साधु बीमार है, उसे मूंग की दाल ही देनी है और तूं मिलाकर ले आया? मुनि हेमराजजी खूंटी तानकर सो गए। आहार का समय आया। सब साधु बैठ गए पर हेमराजजी नहीं आए। संतों ने आचार्य भिक्षु से कहा— मुनि हेमराजजी सो रहे हैं। आचार्य भिक्षु बोले— हेमड़ा! दोष मेरा देख रहा है या अपना देख रहा है? तत्काल समाधान हो गया। वे भोजन करने के लिए प्रस्तुत हो गए।

आचार्य भिक्षु बहुत छोटी-सी बात पर भी ध्यान देते थे कि कहीं प्रमाद न हो। जो व्यक्ति छोटी बात पर ध्यान नहीं देता, वह किसी महान् व्यक्तित्व के निर्माण में सफल नहीं हो सकता। बांध में छोटा-सा छेद हो गया। यदि हम यह कहें— छोटा सा छेद हुआ है क्या फर्क पड़ेगा तो उसका

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

परिणाम क्या होगा? निर्माण के लिए छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

तत्काल इलाज करें

पुराने जमाने की बात है। वैद्य से एक बीमार ने कहा— वैद्यवर! जुखाम हो गया है, कोई पुड़िया दें। वैद्य ने कहा— चला जा यहां से, क्या समझकर आया है? क्या मैं छोटा वैद्य हूं, जो तुम्हें जुकाम की दवा दूं। बीमार आदमी बोला— वैद्यराज! मैं तो बड़ी आशा लेकर आया था। वैद्य ने कहा— मैं तो निमोनिया का इलाज करता हूं। मेरे पास उसकी रामबाण दवा है। कभी निमोनिया हो जाए तो मेरे पास आना। तुम एक काम करो तो आज ही दवा दे दूंगा। तुम्हें जुकाम तो है ही। नदी के पानी में खूब नहाओ। जब निमोनिया हो जाए तब मेरे पास चले आना। मैं इलाज कर दूंगा।

'जो लोग जुकाम को मिटाना नहीं जानते और निमोनिया का इलाज जानते हैं, वे बड़े भयंकर होते हैं। जो छोटी बात पर ध्यान देना नहीं जानते, वे लोग ही ऐसी बातें करते हैं। हम निमोनिया होने ही क्यों दें? इसीलिए कहा है— अग्नि, रोग और शत्रु— इनका तत्काल इलाज कर देना चाहिए ताकि ये बढ़े नहीं। इनके साथ एक बात और जोड़ दें— मनुष्य का स्वभाव। इसका भी इलाज तत्काल कर देना चाहिए। इस प्रसंग में आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी की प्रकृति एकाकार हो जाती है। कहा जा सकता है— अहिंसा और व्यक्तित्व निर्माण के क्षेत्र में आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी इन दो व्यक्तियों ने जो कार्य किया है, उसके लिए समाज और दर्शन का क्षेत्र इनका ऋणी रहेगा और ये दोनों ही व्यक्ति अध्ययन और मनन का विषय बने रहेंगे।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु और टॉलस्टॉय।

यह विराट् विश्व और उसकी व्यवस्था कैसी चल रही है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। विश्व केवल हमारी पृथ्वी ही नहीं है। अनन्त आकाश अवस्थित में हैं, अनंत निहारिकाएं, सौरमंडल और पृथ्वियां। कैसे चल रहा है यह विश्व? यह प्रश्न हजारों वर्ष पहले ऋषियों के मन में उभरा था। आज हमारे मन में भी यह प्रश्न उठ सकता है।

विश्व-व्यवस्था : मूल-तत्त्व

विश्व की व्यवस्था का मूल तत्व है नियम या संयम। विश्व नियम से चलता है, संयम से चलता है। वे नियम मनुष्य के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं। जो सार्वभौम नियम हैं, जागतिक नियम हैं, वे विश्व-व्यवस्था के नियामक हैं। दूसरी बात है— जगत् में संयम है, इसलिए विश्व चल रहा है। हम जिस पृथ्वी पर जी रहे हैं, उसकी बात करें। इस पृथ्वी में पानी का भाग कितना है, और स्थूल भूभाग कितना है। स्थूल भूभाग बहुत छोटा है। जो है, वह भी प्राय: पानी से घिरा हुआ है। चारों ओर समुद्र ही समुद्र है। मध्य में एक छोटा सा टुकड़ा है स्थूल भूभाग का। यदि पानी थोड़ा सा और बढ़ जाए, समुद्र का जलस्तर चार-पांच मीटर बढ़ जाए तो पृथ्वी की क्या दशा होगी? लेकिन उसका जलस्तर बढ़ नहीं रहा है, संयमित है, इसीलिए उसका नाम समुद्र है। संस्कृत में मुद्रा शब्द का अर्थ होता है मर्यादा। जो मर्यादा सहित है, संयम से युक्त है, वह समुद्र है। समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता। नदी के पास जाने में खतरा महसूस हो सकता है, पर समुद्र के पास में कोई खतरा नहीं होता। नदी का पूर कब आ जाए, इसका पता नहीं चलता। समुद्र का नियम निश्चित है। ज्वार और भाटे का नियम निश्चित है, जल की वृद्धि और ह्रास का नियम निश्चित है।

नियामक तत्व है संयम

सारा विश्व नियम से चल रहा है। यह अलग बात है कि व्यक्ति अपने

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

असंयम से ओजोन की छतरी को तोड़ दे और परा-बैंगनी किरणें बरसनी शुरू हो जाए। अन्यथा प्रकृति अपने नियम से चलती है। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है– विश्व की व्यवस्था का नियामक तत्व है – संयम। इसीलिए हम उन व्यक्तियों को आज भी याद करते हैं, जो संयम के प्रवक्ता हुए हैं। संयम के प्रवक्ता इस दुनिया के मान्य व्यक्ति हुए हैं। असंयम का जीवन जीने वाले, असंयम की बात करने वाले अनगिनत व्यक्ति हुए हैं, जिनका लोग नाम तक नहीं जानते हैं। जो जो संयम के प्रवक्ता हुए हैं, उन्हें मानव जाति सिर पर उठाए हुए है। वह उनकी चरण रज को पवित्र मानकर कर पूजती है।

संयम के दो प्रवक्ता

आज मैं संयम के दो प्रवक्ताओं की चर्चा करना चाहता हूं। एक हैं– आचार्य भिक्षु और दूसरे हैं – महात्मा टालस्टाय। आचार्य भिक्षु राजस्थान में जन्मे और टालस्टाय रूस में। दोनों ही महान् विचारक और संयम के महान् प्रवक्ता थे। टालस्टाय गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी थे। आचार्य भिक्षु जैन मुनि बने, मुनित्व का उन्नयन किया। उनके संयमजीवन की एक ही कसौटी थी और वह थी संयम। संयम के अलावा और कोई बात उनके सामने नहीं थी।

विकास कैसे?

मनुष्य जाति को अपने विकास के लिए सबसे पहली आवश्यकता है आदर्श की। जिस समाज के सामने कोई आदर्श नहीं होता, वह कभी भी आगे नहीं बढ़ सकता, विकास नहीं कर सकता। दूसरा तत्त्व है– आदर्श की प्राप्ति का साधन। उस आदर्श तक कैसे पहुंचा जा सकता है? यह जाने बिना विकास संभव नहीं बनता। तीसरा तत्त्व है– अपना पराक्रम और गति। साध्य, साधन और गति– इन तीनों का योग विकास के लिए जरूरी है।

आदर्श है वीतराग

जैन धर्म में आदर्श माना गया– वीतराग। इस राग-द्वेष जनित दुनिया में अगर वीतराग जैसा तत्त्व नियामक न हो तो दुनिया की क्या स्थिति बन जाए? सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन में वीतराग को मूल्य दिया गया है फिर भी तीव्र राग-द्वेष और तीव्र असंयम है, इतनी उद्दंडता, अपराध और आतंक है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

यदि वीतराग आदर्श नहीं होता तो कैसी स्थिति होती? चारों ओर अंधकार ही अंधकार होता, कहीं प्रकाश दिखाई ही नहीं देता।

आदर्श है वीतराग और उसे पाने का साधन है संयम। कोई व्यक्ति संयम के बिना वीतरागता की दिशा में प्रस्थान नहीं कर सकता। यदि हमारे सामने आदर्श स्पष्ट नहीं है तो हमारी दिशा ही गलत हो जाएगी। गति से पूर्व दिशा का निर्धारण जरूरी होता है। दिशाहीनता से भटकाव की स्थिति निर्मित होती है। यह असंयम का जो भटकाव है, वह दिशाहीनता का परिणाम है। दिशाहीनता को मिटाने का कार्य करते हैं संयम के प्रवक्ता। इसलिए उन्हें विश्व स्थिति का नियामक कहा जा सकता है—

आदर्शो वीतरागोस्ति,
संयमस्तस्य साधनम्।।
संयमस्यप्रवक्तारः,
संति विश्वनियामकाः।।

टालस्टाय का कथन

आचार्य भिक्षु का लक्ष्य था मोक्ष की उपलब्धि। संयम और मोक्ष— इन दो शब्दों के बिना आचार्य भिक्षु को समझा ही नहीं जा सकता। टालस्टाय से पूछा गया— यदि सब लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने लगें तो मनुष्य जाति के नष्ट होने का खतरा पैदा नहीं हो जाएगा? टालस्टाय ने उत्तर दिया— भाई! तुम चिन्ता क्यों करते हो? धार्मिक लोग मानते हैं— मोक्ष जाना है और वैज्ञानिक लोग मानते हैं— एक समय ऐसा आएगा कि सूर्य ठंडा हो जाएगा। दोनों ही दृष्टियों से मनुष्य जाति का समाप्त हो जाना अनिवार्य है। चिन्ता की कोई बात नहीं है।

बहुत लोग संयम की बात पर तर्क का आवरण डालने का प्रयत्न करते हैं। टालस्टाय के इस उत्तर में संयम का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित है।

आचार्य भिक्षु की संयम-निष्ठा

हम आचार्य भिक्षु की संयम-निष्ठा को देखें। उन्हें कितनी कसौटियों में से गुजरना पड़ा। पहले अपना संयम और इतना कठोर संयम कि देखने वाला प्रकम्पित हो जाए। एक धर्मक्रांति का समय चल रहा था। आचार्य भिक्षु ने वे

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सचाइयां प्रकट कीं, जिन्हें सुनने के लिए जनता मानसिक रूप से तैयार नहीं थी। तत्कालीन समाज आचार्य भिक्षु की उन बातों से विक्षुब्ध बन गया। आचार्य भिक्षु उन कठिन परिस्थितियों में अविचलित बने रहे। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो केवल सत्य की अपेक्षा रखते हैं, और किसी बात की अपेक्षा नहीं रखते। आचार्य भिक्षु भी ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तित्व थे। उन्होंने सत्य के लिए जानबूझ कर अनेक कष्टों को झेला। आचार्य भिक्षु तेरापंथ के स्वयंभू आचार्य बने। आचार्य बनने के बाद जब उन्होंने सत्य की उद्घोषणाएं कीं तब समाज में विद्रोह हो गया। समाज ने उद्घोषणा की– आचार्य भिक्षु को ठहरने के लिए स्थान नहीं दिया जाए, आहार नहीं दिया जाए, पानी नहीं दिया जाए। आज गरीबी की रेखा के नीचे जो समाज जी रहा है, पांच वर्ष तक वैसी स्थिति बनी रही। दो जून खाने को भी नहीं मिला। आचार्य भिक्षु उपवास करते, संयम और तपस्या का जीवन जीते। इस प्रकार का कठोर जीवन जीना स्वीकार किया लेकिन सत्य और संयम का पथ नहीं छोड़ा।

धर्म : प्रारम्भ बिन्दु

आचार्य भिक्षु ने धर्म की परिभाषा की– त्याग धर्म, भोग अधर्म। संयम धर्म, असंयम अधर्म। व्रत धर्म, अव्रत अधर्म। धर्म की यह ऐसी सरल परिभाषा है, जिसमें किसी सम्प्रदाय का प्रश्न नहीं है। वीतरागता या मोक्ष की दिशा में किसी को प्रस्थान करना है तो उसे त्याग, संयम और व्रत को अपनाना ही होगा।

टालस्टाय से पूछा गया– धर्म की बात बहुत लम्बी चौड़ी है। उसका प्रारंभ कहां से करें? टालस्टाय ने कहा – उपवास से। भगवान महावीर ने साधना के बारह भेद बतलाए। साधना का पहला सूत्र था– अनशन– उपवास।

आहार-संयम के बिना वीतरागता या धर्म की बात नहीं सोची जा सकती। सारा असंयम आहार से पैदा होता है। बहुत पहले इस सचाई को पकड़ा गया– जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन। जब तक आहार का संयम नहीं होगा, इन्द्रिय-संयम, शरीर-संयम या आसन-संयम की बात संभव ही नहीं है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

प्रतिरोधात्मक शक्ति है संयम

वर्तमान मानव समाज मोक्ष को माने या न माने, वीतरागता को माने या न माने किन्तु उसके लिए एक 'एन्टी बॉडी' का निर्माण करना जरूरी है। केवल राजसत्ता या दण्ड-विधानों के आधार पर समाज को शासित नहीं किया जा सकता। शरीर में बहुत से जीवाणु भरे पड़े हैं, पर हमारी रोग-निरोधकशक्ति, जैविक शक्ति निरंतर बचाव करती है। यदि वह शक्ति कमजोर हो जाए तो व्यक्ति रुग्ण बन जाए। यदि समाज में संयम की प्रतिरोधात्मक शक्ति न रहे तो समाज कभी स्वस्थ और अच्छे ढंग से नही चल सकता। उस शक्ति को जीवित रखने के लिए धर्म को जीवित रखना जरूरी है। संयम जीवित धर्म है। यदि यह बात समझ में आ जाए तो आचार्य भिक्षु भी समझ में आ जाएंगे, महात्मा टालस्टाय भी समझ में आ जाएंगे।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु और रस्किन

सत्य पर किसी का अधिकार नहीं होता। वह सबके लिए समान होता है। विचार का धरातल भी सबके लिये समान होता है। उसमें देश और काल कहीं व्यवधान नहीं बनते। किसी भी देश और किसी भी काल में सत्य का शोध करने वाले और उदात्त विचार करने वाले लोग जन्म लेते रहे हैं। आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्में और जॉन रस्किन जर्मनी में। किन्तु जब दोनों के चिन्तन को देखते हैं तो आचार्य भिक्षु और रस्किन विचार की भूमिका पर बहुत निकट आ जाते हैं, क्षेत्रीय दूरी समाप्त हो जाती है।

सर्वोदय का सिद्धान्त

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

महात्मा गांधी तीन व्यक्तियों से बहुत प्रभावित हुए थे – श्रीमद् राजचंद्र, टॉलस्टाय और जॉन रस्किन। जॉन रस्किन की एक पुस्तक पढ़ने के बाद महात्मा गांधी ने सर्वोदय का नाम प्रकट किया। आचार्य समंतभद्र ने सबसे पहले सर्वोदय शब्द का प्रयोग कया था। उन्होंने भगवान महावीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ से अभिहित किया। जॉन रस्किन की अन्टू दि लास्ट (Unto the last) नामक पुस्तक से महात्मा गांधी ने सर्वोदय का नाम लिया। रस्किन ने कहा– जो अन्तिम आदमी है, वहां तक तुम सोचो, उस तक पहुंचो। आचार्य भिक्षु ने सर्वोदय शब्द का प्रयोग तो नहीं किया किन्तु उनकी सारी स्थापनाएं सर्वोदय के साथ चलती हैं। गरीबों का पक्ष लेने वाले विरल व्यक्तियों में आचार्य भिक्षु का नाम अग्रणी है। रस्किन और गांधी ने केवल मनुष्यों के बारे में सोचा– गरीबों के प्रति अन्याय न हो। आचार्य भिक्षु का चिन्तन केवल मनुष्यों तक ही नहीं, प्राणी मात्र के लिए था– किसी छोटे से जीव के प्रति भी अन्याय न हो, अतिक्रमण न हो। रस्किन और आचार्य भिक्षु– दोनों के सामने सर्वोदय का सिद्धान्त रहा है, भूमिका अलग हो सकती है। रस्किन के सामने समाज का प्रश्न था और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

आचार्य भिक्षु के सामने जगत् का प्रश्न था। दोनों के फलित में सर्वोदय होता है।

सोलोमन से प्रभावित

रस्किन एक यहूदी व्यापारी सोलोमन से प्रभावित था। उसके विचार बड़े ही मार्मिक थे, सत्यपरक थे। उसके विचार थे – सबकी भलाई में ही हमारी भलाई है। सबकी भलाई सोचें तभी हमारी भलाई हो सकती है। सबको छोड़कर केवल अपनी भलाई की बात कभी संभव नहीं हो सकती। यह था सोलोमन का चिंतन। सोलोमन का दूसरा विचार था कि जो आदमी धन कमाने के लिए गरीबों को सताता है, वह अन्त में संताप भोगेगा। यह नैतिकता का विचार था। उसका तीसरा विचार था – अमीर और गरीब– दोनों को समान समझो। इन विचारों का प्रभाव रस्किन पर पड़ा और उसने अपने लेखों में सोलोमन के विचारों को बहुत महत्त्व दिया। रस्किन ने अपनी जो स्थापनाएं कीं, उस भूमिका पर उसने चिन्तन किया और चिन्तन का निष्कर्ष 'अन्टू दि लास्ट' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया। उस पुस्तक का गांधी जी पर बहुत प्रभाव हुआ।

सबसे बड़ी भूल

रस्किन का एक विचार था कि मनुष्य बहुत भूलें करता है। सबसे बड़ी भूल यह करता है कि वह आदमी को मशीन मानकर उससे काम लेता है। उसके साथ स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार नहीं करता। आचार्य भिक्षु ने भी इस सचाई को पकड़ा। जब तक आदमी-आदमी के साथ स्नेह और सहानुभूति का व्यवहार नहीं करेगा तब तक समाज या संगठन कभी अच्छा नहीं चल सकेगा। आचार्य भिक्षु ने अंतिम समय में अपने साधुओं को जो शिक्षा दी, उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र था– सब साधु-साध्वियां परस्पर में सौहार्द का भाव रखना, स्नेह और वात्सल्य का भाव रखना। कोई संगठन स्नेह और वात्सल्य के अभाव में अच्छा चल नहीं सकता। जिस संगठन में स्वार्थ की अनुभूति होने लगती है, उसमें गहराई नहीं आ सकती। हर आदमी सशंकित रहता है।

धर्मोपदेशक का कर्त्तव्य

व्यवहार का बड़ा सूत्र है– आश्वस्त करना, विश्वस्त रहना। आचार्य

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

भिक्षु ने व्यवहारवाद पर बहुत बल दिया। जहां व्यवहार क्लांत होता है, उसमें रूखापन आता है वहां उस संगठन में विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। आचार्य भिक्षु और रस्किन ने ठीक इसी बात पर बल दिया कि किसी भी आदमी को मशीन मान लेना बहुत बड़ी भूल है। जहां यह माना जाएगा वहां समस्याएं पैदा हो जाएंगी। रस्किन की एक बात मुझे बहुत अच्छी लगी। उन्होंने लिखा— एक धर्मोपदेशक, जो सत्य का प्रतिपादन करता है, यदि उसे सत्य का प्रतिपादन करने के कारण कोई मार डाले तो मर जाना कबूल करे, पर वह झूठ बात न कहे। मरते दम तक सत्य का प्रतिपादन करना, यह धर्मोपदेशक का महान् कर्तव्य है। जो बात रस्किन ने कही, आचार्य भिक्षु ने उसे जीया। आचार्य भिक्षु ने सत्य का प्रतिपादन किया। सचाई के प्रतिपादन के लिये सैकड़ों कठिनाइयों को झेला। उन्होंने मरते दम तक सत्य को नहीं छोड़ा। आचार्य भिक्षु सत्य का प्रतिपादन करते रहे, कठिनाइयों को झेलते रहे। ऐसे लोग बहुत कम मिलते हैं। रस्किन के इस वाक्य ने आचार्य भिक्षु के जीवन में साकार रूप ग्रहण किया। धर्मोपदेशक अगर भय और प्रलोभन के साथ अपनी बात कहता है तो वह सही अर्थ में सच्चा धर्मोपदेशक नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने हमेशा सत्य का उद्घाटन किया, भय और प्रलोभन के दबाव से सर्वथा मुक्त होकर किया।

श्रम का महत्त्व

गांधी जी ने श्रम का जो सिद्धान्त सीखा, उसमें टालस्टाय और रस्किन— दोनों मुख्य रहे हैं। रस्किन ने इस बात पर बल दिया कि सही जीवन वही है, जो सादा और श्रम युक्त जीवन हो। बड़प्पन और छुटपन के जो झूठे मानदण्ड समाज में विकसित हो गये हैं, वे समाज के लिये हितकर नहीं हैं। आचार्य भिक्षु ने भी श्रम की प्रतिष्ठा कम नहीं की। उन्होंने स्वयं तो श्रम का जीवन जीया किन्तु साधु समाज को जो व्यवस्थाएं दीं, उनमें भी श्रम को काफी महत्त्व दिया। प्रत्येक मुनि के लिए बोझ उठाना, गोचरी लाना, पानी लाना, कचरा निकालना आदि आवश्यक कर दिया। सब मुनि बराबर श्रम करें, ऐसी व्यवस्था आचार्य भिक्षु ने दी इसीलिए तेरापंथ के साधु-साध्वियां बहुत श्रमनिष्ठ रहे हैं।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

हमारे यहां सबके सब दर्जी हैं, सबके सब नाई हैं, सबके सब धोबी हैं। जो श्रम की प्रतिष्ठा आचार्य भिक्षु ने की, उसके संदर्भ में कहा जा सकता है— श्रम को मूल्य देने के बारे में जो रस्किन ने सोचा, टालस्टाय ने सोचा, गांधी जी ने सोचा, उसे आचार्य भिक्षु ने पहले ही क्रियान्वित कर दिया था।

स्नेह और सौहार्द भाव

तेरापंथ के निकट रहने वाले लोग धर्म सीखने के साथ-साथ संगठन और व्यवहार को सीखते तो समाज का भी बड़ा कल्याण होता। श्रम करना अलग बात है और उसे प्रतिष्ठा देना, महत्त्व देना अलग बात है। आचार्य भिक्षु ने उसे मूल्य दिया था।

आचार्य भिक्षु ने कहा— जब तक यह परस्पर स्नेह और सौहार्द की भावना रहेगी तब तक साधु-संस्था तेजस्वी बनी रहेगी। यह सचाई रस्किन के विचारों में भी उपलब्ध होती है। वस्तुतः अध्यात्म के धरातल पर कोई द्वैत नहीं हो सकता। इसे हम आचार्य भिक्षु और रस्किन— इन दो महान् पुरुषों के विचारों में उपलब्ध साम्य से जान सकते हैं। हम इनकी अनुभूतियों का अध्ययन करें, हमारा दृष्टिकोण बहुत साफ और प्रशस्त होगा।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जयाचार्य और मार्क्स

इतिहास साक्षी है – दुनिया में जितने बड़े लोग हुए हैं, उन्होंने समाज के दुःख को मिटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे भी कहा जा सकता है–जिन लोगों ने समाज को दुःख-मुक्त करने का प्रयत्न किया है, वे ही बड़े बने हैं। दुःख है, इस तथ्य को सबने स्वीकार किया और यह प्रयत्न किया–समाज का दुःख कम कैसे हो? व्यक्ति का दुःख कम कैसे हो? समाज, राजनीति और धर्म से जुड़े लोगों ने इस दिशा में बहुत कार्य किया है।

दुःख-मुक्ति के प्रयत्न

इस दुनिया में अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने दुःख-मुक्ति के स्वर को उदात्त किया। ईसा पूर्व पांचवी-छठी शताब्दी में महावीर, बुद्ध और कन्फ्यूशियस ने दुःख को मिटाने की बात कही। दुःख की भाषा और परिभाषा में भिन्नता हो सकती है पर दुःख मिटे, इस शब्दावलि में कोई विमत नहीं है। महावीर और बुद्ध–दोनों ने दुःख-मुक्ति का प्रयत्न किया। अन्तर केवल इतना सा था–बुद्ध ने केवल वर्तमान के दुःख को मिटाने पर अधिक बल दिया और महावीर ने दुःख के मूल को मिटाने पर अधिक बल दिया। कन्फ्यूशियस का मत था – बुद्धि का विकास हो लेकिन केवल बुद्धि से ही काम नहीं चलेगा। उसके साथ-साथ भावना का विकास हो, अनुशासन का विकास हो। इससे परिवार में सुख एवं शान्ति का वातावरण बनेगा। परिवार अच्छा बनेगा तो राज्य अच्छा बनेगा। राज्य अच्छा बनेगा तो समाज सुखी एवं शान्त रहेगा।

अनुभव शोषित वर्ग की पीड़ा का

ईसा, मोहम्मद साहब आदि जितने बड़े-बड़े व्यक्तित्व उभरे, उन सबने दुःख को मिटाने का प्रयत्न किया। यह इतिहास का एक शाश्वत

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

सत्य है — जो लोग व्यापक दृष्टि से देखने वाले होते हैं, वे समाज के दुःखों को कम करने का प्रयत्न करते हैं। इसी श्रृंखला में मार्क्स का नाम लिया जा सकता है। मार्क्स एक ऐसे दार्शनिक और अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने समाज के निम्न वर्ग के लोगों की पीड़ा का अनुभव किया। उनके दुःख को देख मार्क्स द्रवित हो उठे। मार्क्स ने इसी चिन्तन में अपना सारा जीवन खपा दिया—जो निम्न वर्ग के लोग हैं, मजदूर हैं, शोषित हैं, जिनका शोषण किया जा रहा है, उनका दुःख कैसे समाप्त हो? मिल मालिक और मजदूर का जो वर्ग-संघर्ष चल रहा है, उसमें मजदूर कैसे आगे आएं? कैसे शक्तिशाली बनें? इस दिशा में उन्होंने गंभीर चिन्तन-मंथन किया। अनेक कठिनाइयों को सहन किया। रोटी की समस्या से जूझे। गरीबी के कारण उनका लड़का चल बसा। न जाने कितने कष्ट आए लेकिन मार्क्स इसी चिन्तन की क्रियान्विति में लगे रहे।

क्या वह आदमी होता है?

मैं अनेक बार सोचता हूं, जो व्यक्ति गरीबों के प्रति संवेदनशील नहीं होता, असमर्थ लोगों के प्रति संवेदनशील नहीं होता, क्या वह आदमी होता है? कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो बहुत समर्थ होते हैं। वे अपने आस-पास दस-बीस या पचास-सौ लोगों का घेरा बना लेते हैं। उससे आगे की बात वे सोच नहीं पाते। छोटे तबके के लोगों पर उनका ध्यान ही नहीं जाता। जो शारीरिक, मानसिक या आर्थिक दृष्टि से असमर्थ हैं, उनके प्रति जिसके मन में कोई संवेदना नहीं जागती, उसमें मानवीय करुणा का स्रोत सूख जाता है।

कार्ल मार्क्स शोषित वर्ग के प्रति संवेदनशील थे। मार्क्स ने उनके दुःख को कम करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। उन्होंने शोषित वर्ग के उत्थान के लिए जो विचार और दर्शन प्रस्तुत किया, उसके आधार पर एक नए दर्शन—साम्यवाद का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी का व्यक्तित्व

जयाचार्य और मार्क्स—दोनों ने उन्नीसवीं शताब्दी को अपने चिंतन-मंथन से प्रभावित किया। जयाचार्य का जन्म ईस्वी सन् १८०३ में हुआ और मार्क्स का जन्म ईस्वी १८१८ में। केवल पन्द्रह वर्ष का अन्तर।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

जयाचार्य के स्वर्गवास का समय है ईस्वी सन् १८८१ और मार्क्स का देहावसान हुआ ईस्वी सन् १८८३ में। केवल दो वर्ष का अन्तर। जयाचार्य और मार्क्स—दोनों का अस्तित्व काल एक समान रहा है। समकालिक होते हुए भी क्षेत्रीय दृष्टि से इन दोनों महान् व्यक्तियों में बहुत दूरी है। जयाचार्य हिन्दुस्तान में जन्मे और मार्क्स यूरोप में। मार्क्स को अनेक देशों में प्रवास करना पड़ा। उन्हें देश से निकाल दिया गया। वे फ्रान्स और लन्दन में भी रहे। मार्क्स का कार्यक्षेत्र था समाज इसलिए उन्होंने आर्थिक भूमिका पर अधिक चिन्तन किया। जयाचार्य का कार्यक्षेत्र था अध्यात्म। उनके सामने साधु-समाज का प्रश्न था। किन्तु प्रयोग की दृष्टि से विचार करें तो जयाचार्य और मार्क्स— दोनों एक भूमिका पर आ जाते हैं। जयाचार्य ने साधु-समाज में संविभाग और समता का प्रयोग किया। मार्क्स ने भी समाज में समानता और संविभाग का प्रयोग किया। जयाचार्य के समय साधु-समाज में व्यवस्थाएं थीं लेकिन जितनी व्यवस्थाएं अपेक्षित थीं, उतनी नहीं थीं।

संविभाग और समता

आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ धर्मसंघ को व्यवस्था प्रधान धर्मसंघ बनाया। व्यवस्थाओं को बहुत मूल्य दिया। मूल चरित्र है किन्तु आचार की शुद्धि के लिए व्यवस्थाओं को महत्त्व देना भी जरूरी है। यह माना गया — व्यवस्थाएं अच्छी होंगी, अनुशासन सम्यग् होगा तो चरित्र अच्छा पाला जाएगा। अनुशासन, मर्यादा और व्यवस्थाएं नहीं होंगी तो चरित्र की आराधना में कठिनाई होगी। इस आधार पर आचार्य भिक्षु ने व्यवस्थाओं पर ध्यान दिया। जयाचार्य भी व्यवस्था के प्रति बड़े जागरूक थे। जयाचार्य ने धर्मसंघ में संविभाग का प्रयोग किया। छोटा साधु है या बड़ा साधु है। कम पढ़ा लिखा साधु है या अधिक पढ़ा लिखा साधु है। पर व्यवस्था का जहां प्रश्न है वहां संविभाग होना चाहिए, समता होनी चाहिए। समर्थ साध्वी है या कमजोर साध्वी है किन्तु जहां व्यवस्था का प्रश्न है वहां संविभागिता और साम्य होना चाहिए। अगर अहिंसा के क्षेत्र में साम्य नहीं होगा, संविभाग नहीं होगा तो क्या हिंसा के क्षेत्र में होगा?

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साम्यवाद : असफलता का कारण

जब तक ममत्व का विसर्जन नहीं होता तब तक साम्य और समता की बात नहीं आ सकती। संविभाग के लिए व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना होता है और उसका सीमाकरण तब तक सम्भव नहीं होता जब तक ममत्व का अल्पीकरण न हो, विसर्जन न हो। यह सूत्र जयाचार्य और मार्क्स – दोनों के सामने रहा। मार्क्स ने अपनी घोषणाओं में कहा – साम्यवाद में शोषण नहीं होगा। व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होगी। तीसरी बात थी–परिवार नहीं होगा। यह सूत्र अध्यात्म का है। जब तक ममत्व का विसर्जन नहीं होता तब तक धर्म के क्षेत्र में कोई भी व्यक्ति आगे नहीं बढ़ सकता। इसी सूत्र को मार्क्स ने अपनाया लेकिन जब तक अध्यात्म का आदर्श सामने नहीं रहता तब तक उसका सफल होना कैसे सम्भव हो सकता है? साम्यवाद फैल भी गया, पनप नहीं सका। मार्क्स ने इतनी बड़ी कल्पना कर ली पर साथ में धर्म को नहीं जोड़ा, अध्यात्म को नहीं जोड़ा। मार्क्स ने अन्तिम समय में अपने साथी एंजल्स से कहा – भाई! हमें धर्म और अध्यात्म की बात सोचनी चाहिए थी पर हम इतनी उलझनों में फंसे रहे कि इस दिशा में सोच ही नहीं पाए। अगर साम्यवाद की व्यवस्था के साथ अध्यात्म और धर्म को जोड़ दिया जाता हो व्यवस्था ठीक बन जाती। आज जो बदलाव की बात उठ रही है, गोर्बाच्योव साम्यवाद में जो नया काम कर रहे हैं, उसकी जरूरत भी नहीं पड़ती, साम्यवाद असफल नहीं होता।

परिवारवाद से मुक्ति

जयाचार्य ने भी परिवारवाद को छुड़ाया। साधु परिवार छोड़कर आता है लेकिन साधु-संस्था में प्रविष्ट होने के बाद साधुओं का भी एक नया परिवार बन जाता है। जयाचार्य के समय में ७४ साध्वियां थी और सिंघाडें थे दम। जिसने जितनी साध्वियां चाहीं, अपने पास रख लीं। एक परिवार सा बना लिया। जयाचार्य ने देखा, यह नया ममत्व बनता जा रहा है। एक ही रात में जयाचार्य ने सारी व्यवस्था को बदल दिया, एक समीकरण कर दिया, पांच-पांच या चार-चार साध्वियों का सिघाड़ा (ग्रुप) कर दिया। संविभाग हो गया – साधुओं के प्रत्येक सिघाड़ें में तीन अथवा दो मंत और

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

साध्वियों के प्रत्येक सिंघाड़ें में पांच अथवा चार साध्वियां। एक सामान्य व्यवस्था बन गई।

व्यवस्था के साथ अध्यात्म

मार्क्सवाद के मुख्य दो सूत्र हैं—उत्पादन और वितरण; इन पर समाज और सरकार का अधिकार रहे, व्यक्तिगत अधिकार न रहे। पुस्तकों का, शिष्यों का उत्पादन (संग्रह) करना तथा वितरण करना आचार्य का काम होता है। जयाचार्य ने दोनों बातों को संभाला। उस समय किसी के पास बहुत पुस्तकें थीं, किसी के पास कुछ भी नहीं था। जयाचार्य ने इस ममत्व को भी कम किया। उन्होंने पुस्तकों का भी संघीकरण (राष्ट्रीयकरण) कर दिया। इस व्यवस्था से ममत्व विसर्जन का भाव प्रबल बना। जब साधु-साध्वियां चातुर्मास समाप्त कर आचार्य के पास आते हैं तब सबसे पहले बोलते हैं—'मैं, ये साधु-साध्वियां, ये पुस्तक-पन्ने आपके चरणों में समर्पित हैं। आप जहां रखें, वहां रहने का भाव है।' यह शब्दावलि कहे बिना आहार-पानी भोगने का त्याग है। यह सारा किस आधार पर हुआ? इसका कारण यही है—व्यवस्था के साथ अध्यात्म का बल था, निर्ममत्व की साधना और संयम का बल था।

जयाचार्य और मार्क्स : तुलना की आधारभूमि

यह मूलभूत अन्तर है जयाचार्य और मार्क्स में। मार्क्स ने जहां साध्य-साधन – दोनों पर विचार किया और उसे लागू करने के लिए बल-प्रयोग भी किया, वहां जयाचार्य ने कभी बल-प्रयोग नहीं किया। बल के द्वारा आदमी को नहीं हांका जा सकता। आदमी यन्त्र नहीं है। उसे मारा तो जा सकता है, लाठी के बल पर चलाया नहीं जा सकता। वह चलेगा अपनी इच्छा से। आदमी स्वतन्त्र है। धर्म का क्षेत्र पूर्ण स्वतन्त्रता का क्षेत्र है।

जयाचार्य और मार्क्स – दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद जो निष्कर्ष आता है, वह यही है—आदमी को चलाना है तो वह अध्यात्म की चेतना के द्वारा ही सम्भव है। उसकी आन्तरिक चेतना को जगाकर यह समझाया जाए – यह कार्य तुम्हारे हित में है, यह तुम्हारे कल्याण के लिए

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

है। उसके हित को हृदयंगम बनाकर उसे चलाया जा सकता है। जहां बल का प्रयोग होगा वहां दूसरी ही बात पनपेगी। व्यक्ति उसके अनुसार नहीं चलेगा किन्तु उसका मन प्रतिक्रिया से भर जाएगा। अध्यात्म, आन्तरिक चेतना का जागरण, धर्म, संयम, आत्मानुशासन – ये जो सारे शब्द गढ़े गये हैं, उनका आशय यही है कि परिवर्तन किया जा सकता है और जीवन को बदला जा सकता है। जयाचार्य के जीवन के साथ परिवर्तन का एक लम्बा इतिहास जुड़ा हुआ है। उन्होंने तेरापंथ धर्मसंघ में इतनी बातें बदली कि एक तरह से उसमें सौन्दर्य आ गया। परिवर्तन का यह इतिहास जयाचार्य और मार्क्स की तुलना की आधारभूमि प्रस्तुत करता है।

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org

ज्ञान, कर्म और भक्ति

अखण्ड व्यक्तित्व के लिए ज्ञान का होना जरूरी है, कर्म और भक्ति का होना जरूरी है। कोरा ज्ञान है, जानने की क्षमता है और क्रिया की शक्ति नहीं है तो जीवन खण्डित रहता है। सुप्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्र कुमार जी बहुत बार कहते थे—मेरे पास चिन्तन है, मैं सोच सकता हूँ पर कठिनाई यह है कि मेरे में कर्मजा शक्ति नहीं है। जैनेन्द्र जी ने कहा— मेरे मन में आचार्यश्री के प्रति जो अनुराग का भाव है, वह इसलिए है कि आचार्यश्री में ज्ञान के साथ–साथ कर्मजा शक्ति भी है। आचार्यश्री जानते हैं, सोचते हैं और कर डालते हैं। ज्ञान और कर्म दोनों होते हैं तो भी व्यक्तित्व परिपूर्ण नहीं बनता। आदमी जानता है और उसमें कर्म करने का सामर्ध्य है तो अहंकार के लिए खुला निमंत्रण मिल जाता है। क्यक्ति जानने कि शक्ति और कर्म करने की शक्ति—दोनों से सम्पन्न हो और अहंकारी ना हो तो आश्चर्य की बात हो सकती है। जीवन में अहंकार आता है, जीवन टूटना शूरू हो जाता है। अहंकार से बचने का उपाय है भक्ति योग। समर्पण, विश्वास और श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो अहंकार को पनपने का अवसर नहीं मिलता। जिसमें श्रद्धा, समर्पण और विश्वास नहीं है, अहंकार उस पर हावी हो जाता है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

ISBN 81-7195-023-X

© Jain Vishva Bharati For Private & Personal Use Only https://books.jvbharati.org